इन्द्रिय-संयम।

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥

यजुर्वेद, अध्याय ३४ मन्त्र ५५ ॥

अर्थ—सात ऋषि (पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि) शरीर में व्यवस्थित हैं, (वही) सात सदा विना प्रमाद के रक्षा करते हैं (जब ये) शरीर के व्यापने वाले (सात ऋषि) सोते हुए के लोक को प्राप्त होते हैं, उस समय सत्र (यज्ञ) में बैठने वाले और जिन को निद्रा नहीं आती, वे दोनों देव (प्राण और अपान) जागते हैं ॥ अभिप्राय यह है कि पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि ये सात ऋषि प्रत्येक मनुष्य को दिये गये हैं, जो सदा साव-धानता से उसके शरीर की रक्षा करते हैं। ये ही सप्त ऋषि, जो शरीर में व्यापक हैं, जब मनुष्य सोता है, तो उसके लोक (आत्मा के रहने के स्थान हृदयाकाश) में चले जाते हैं। उस समय मनुष्य को बाह्य विषयों का दर्शन नहीं होता, अपने भीतर ही स्वप्न को देखता वा निद्रा के आनन्द को अनुभव करता है;

हां उस अवस्था में भी प्राण और अपान (भीतर जाने वाला वायु और बाहिर आने वाला वायु) ये दोनों देवता जागते हैं। क्योंकि, ये दोनों शरीर के रक्षा रूप सत्र में बैठे हुए हैं। और इन्हीं दोनों ने शरीर रक्षा रूपी यज्ञ को पूर्ण करना है। इसी लिये ये कभी नहीं सोते, क्योंकि, इन के निद्रित होने पर यज्ञ (शरीर रक्षा) का विध्वंस हो जाताहै॥ इस मन्त्र में बतलाया गया है कि ये सप्त ऋषि हमें परमात्मा ने इसलिये प्रदान किये हैं, कि ये सावधानता से हमारे शरीर की रक्षा करें अर्थात् नेत्र (देखने का साधन) त्वक् (स्पर्श का साधन) रसना (रस ज्ञान कासाधन) घ्राण (सूङ्घने का साधन) मन (सङ्कल्प-विकल्प करने वाला) बुद्धि (निश्चय करने वाली) ये सप्त ऋषि हैं, जो शरीर के रक्षक और मार्ग के प्रदर्शक हैं। कोई सन्देह नहीं कि, नेत्रों से हम शत्रु और मित्र, अनिष्ट और इष्ट को देख कर शत्रु और अनिष्ट से बचते तथा मित्र और इष्ट को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अवशिष्ट ऋषियों की सहायता से हम इष्ट और अनिष्ट को पहिचान कर, इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार करके अपने आप को निष्कण्टक मार्ग पर चलाते हुए जीवन के स्वास्थ्य और रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करके निश्चिन्त विचरते हैं। परन्तु इसमें भी कोई संदेह नहीं, कि इसी देह में राग, द्वेष, मोह तथा काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ, माया, एवं काम, दम्भ क्रोध, ईर्षा, असूया, द्रोह, अमर्ष, अभिमान और विपर्य्यय, संशय, तर्क, मान, प्रमाद, भय, शोक प्रभृति अनेक आसुर भाव विद्यमान हैं, जो अवसर पाकर इन ऋषियों में आवेश करके इन को अपनी इच्छा पर चला लेते हैं। तब ये हमें सकण्टक मार्ग में चलाते और स्वास्थ्य तथा रक्षा के स्थान में पाप और

उपद्रव के गढ़े में गिराते हैं, अतएव इनको अपने वश में रखना सुख का हेतु और असुरों के वश में जाने देना दुःख का हेतु है॥

इन को वश में रखने का नाम इन्द्रिय-संयम था जितेन्द्रियता वा इन्द्रिय-जय है। और आसुर भावों के वशीभूत होने देने का नाम इन्द्रियासंयम वा अजितेन्द्रियता है। स्मरण रहे कि जिस प्रकार एक ही पुष्टि-कारक भोजन, संयम के साथ वर्तने से पुष्टि और दीर्घायु का हेतु होता है, और वही असंयम के साथ वर्तने से रोग और मृत्यु का कारण बन जाता है। और जिस प्रकार एक ही धन, शुभ कर्म में उपयुक्त करने से अपने स्वामी को पुण्यात्मा और अशुभ कर्म में लगाने से पापात्मा बना देता है, इसी प्रकार एक ही इन्द्रियहैं, जिनका संयम संयमी पुरुष को उत्साह, साहस, तेजस्, ओजस्, बल, पराक्रम, वीर्य्य, धैर्य्य, शौर्य्य प्रभृति गुणों का आकर(खानि)बना देताहै। संयमी सदा प्रसन्न वदन रहता है, सारा दृश्य उसके लिये सुहावना बन जाता है। जिधर दृष्टि देता है नेत्रों को उत्सव ही उत्सव प्रतीत होता है। फिर ये ही इन्द्रिय हैं, जिन के असंयम से अज्ञान, भ्रम, संशय, भय, माया, लोभ, लालच, अशान्ति, अधैर्य्य, कायरता और कुटिलता प्रभृति दुर्गुण मनुष्य को अपना घर बना लेते हैं। विषय चिन्ता उसके मुखको मुरझाय रखती है। इष्ट-विषय की अप्राप्ति में संसार उस को भयानक प्रतीत होता है। और विषयोंमें विघ्न उसके आनन्दका विध्वंस कर देतेहैं॥

यह धर्म (इन्द्रिय-संयम) सब वर्ण और सब आश्रमों के लिये अनुष्ठेय है, और यही एक उपाय है, जिस से सारे कार्य्य अनायास सिद्ध होते हैं। इस के विना पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती और मनुष्य-जीवन पशुजीवन के बराबर बन जाता है॥

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

मनु० अ० २ श्लोक १०० । ९३ ॥

अर्थ—युक्ति के साथ इन्द्रिय-ग्राम (समूह) को वश में कर और मन को संयम में रख करके शरीर को पीड़ा न देता हुआ सारे अर्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थों) को सिद्ध करे ॥ २।१००॥ इस में कोई सन्देह नहीं, कि इन्द्रियों में आसक्ति (तत्परता, फंसावट) से दोष को प्राप्त होता है, और इन्हीं को रोक कर सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ २।९३ ॥ इत्यादि उपदेश प्रकट करते हैं, कि इन्द्रिय संयम प्रत्येक सिद्धि के लिये आवश्यक है। क्योंकि इनके असंयम से सिद्धि और समृद्धि का पाना तो दूर रहा, प्रत्युत दोषों के पाश में फंस जाता है। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये, कि इन्द्रिय संयम इसका नाम नहीं है, कि हम इन्द्रियों को उनके विषयों से सर्वथा रोक दें, क्योंकि ऐसा करना असम्भव है और ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध है। परमात्मा ने हमें नेत्र दिये हैं, वे इस लिये हैं कि, हम उन से देख कर इष्ट, अनिष्ट को पहिचान कर, इष्ट में प्रवृत्त और अनिष्ट से निवृत्त हो सकें। यदि हम इन को फोड़ कर अन्धे बन जाते हैं, तो हम परमात्मा के इस अभिप्राय को पूर्ण नहीं कर सकते। हां इसमें भी सन्देह नहीं, कि जिस प्रकार पाप में फंसाने वाले धन की अपेक्षा उस का

नष्ट हो जाना वा चुराया जाना उत्तम है, इसी प्रकार पाप में ले जाने वाले नेत्रों की अपेक्षा उनका नष्ट हो जाना पवित्र है। परन्तु जिस प्रकार धन का धर्म कार्यों में लगाना पुण्य और बलका हेतु है, इसी प्रकार इन्द्रियों का शुभ कार्य्यों में प्रवृत्त करना अभ्युदय और निःश्रेयस का हेतु है। परमात्मा ने नेत्र दिये हैं, उन से किसी अपवित्र वस्तु और अपवित्र दृश्य को न देखो, किन्तु उत्तम वस्तु और पवित्र दृश्य को देखते हुए परमात्मा का धन्यवाद करो, कि जिसने यह अद्भुत नेत्र दिये हैं। परमात्मा ने श्रोत्र दिये हैं, उनसे दुष्ट शब्द और दुष्ट वचनों को कभी न सुनो, किन्तु उसकी भक्ति और प्रेम के भजन और उत्तम इतिहासों को सुनो। परमात्मा ने जिह्वा दी है, उस से कभी असत्य, कटु और अपशब्द न बोलो, किन्तु परमेश्वर की भक्ति और प्रार्थना के गीत और लोगों के हित से परिपूर्ण मधुर और सत्य वचन बोलो। परमात्मा ने हाथ दिये हैं, उनसे कभी ऐसा कर्म्म न करो, जो परमात्मा को अप्रिय और उसकी प्रजा का अमङ्गल-जनक हो, किन्तु उन से सदा ऐसे कर्म करो, कि जिस से तुम परमात्मा की योग्य सन्तान कहलाओ और तुम उस की प्रजा का मङ्गल साधन कर सको, और जगत् में तुम्हारा सच्चा यश हो, पर तुम यश के लिये कभी काम न करो। क्योंकि ऐसा करने से मनुष्य का आत्मा नीचे गिर जाता है, और वह शनैः शनैः दम्भ की प्रजा में प्रविष्ट होकर धर्म्मध्वजी बन जाता है। परमात्मा ने मन दिया है, उससे कभी परद्रोह और अनिष्ट चिन्तन न करो, किन्तु सर्वदा शुभ चिन्तक और शिव सङ्कल्प बने रहो। स्मरण रक्खो कि इस प्रकार इन इन्द्रियों से हम परमात्मा की आज्ञा का पालन कर

सकते हैं। निदान, इन्द्रिय-संयम यह है, कि प्रतिषिद्ध विषयों से इन्द्रियों को सर्वथा रोक लेना और कभी उनको प्रतिषिद्ध विषयों में न जाने देना, और अप्रतिषिद्ध विषयों में भी अत्यासक्ति का त्याग रखना अर्थात् जिस विषय सेवन का शास्त्र में निषेध नहीं वा विधि है उन में भी कभी फंस न जाना, किन्तु अपने आप को अपने वश में रखना और अप्रतिषिद्ध वा विहित विषयों का उचित रीति पर सेवन करना॥

अब विचारणीय यह है, कि वे कौन उपाय हैं जिन से इन्द्रिय वश में हो सक्ते हैं? क्या विषयों के सेवन से वा असेवन से अथवा किसी और उपाय से? सावधान रहो, कि विषयों के भोगने से कभी तृप्ति नहीं होती॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥
यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥

मनु॰ २।६४।६५॥

अर्थ—विषय कामना विषयों के भोग से कभी शान्त नहीं होती, किन्तु घृत से अग्नि के सदृश अधिकतर बढ़ती है। (अर्थात् विषय सेवी पुरुष जैसे जैसे विषयों का सेवन करता है, वैसे २ उसका अभिलाष उन्हीं विषयों में अधिक, अधिकतर और अधिकतम बढ़ता चला जाता है। कभी उन से उपरति नहीं होती। पूर्ण तृप्त होकर भी हृदय की लालसा बनी रहती

है कि हाय क्यों अब अधिक सेवन नहीं कर सकता) ॥९४॥ जो इन सब विषयों को प्राप्त हो और जो इन को केवल त्याग देवे (उन में से) सब विषयों की प्राप्ति से परित्याग ही बढ़ कर है ॥९५॥ "जो भोगों में इन्द्रियों की तृप्ति से उपशान्ति है वही सुख है और जो चञ्चलता से अनुपशान्ति है, वही दुःख, परन्तु इन्द्रियों को भोग के अभ्यास द्वारा (विषयों से) वितृष्ण करना अशक्य है। क्योंकि जिस कारण भोगों के अभ्यास के साथ २ राग और इन्द्रियों का कौशल बढ़ता है,इस कारण भोगाभ्यास सुख का उपाय नहीं है। सो जिस प्रकार वृश्चिक के विष से डर कर भागता हुआ सर्प से डसा जावे, इसी प्रकार विषयों में सुख का अर्थी विषयों से अनुत्रासित होकर बड़े दुःख-पङ्क में डूबता है (योग दर्शन भाष्य २। १५) इस लिये विषय सेवन इन्द्रिय संयम का उपाय नहीं, प्रत्युत हानिकारक है॥

हां विषयों का असेवन (हठ से इन्द्रियों को विषयों से रोकना) इन्द्रिय संयम का उपाय है, तौ भी यह ऐसा उपाय नहीं, जिस प्रकार कि और उपाय विषयासक्ति का समूल उच्छेदन करने वाले हैं।

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥

मनु० २।९६॥

अर्थ–विषयों में प्रवृत्त ये इन्द्रिय विषयों के असेवन से उस प्रकार नहीं रोके जा सकते,जिस प्रकार सदा ज्ञान (विचार) से रोके जा सकते हैं॥९६॥ पिछले श्लोक (२।९५) में मनु महाराज

का उपदेश है, कि "सब विषयों की प्राप्ति से उनका परित्याग बढ़ कर है"। इस को सुनकर विचार उत्पन्न होता है, कि यदि विषय-भोग से उनका परित्याग उत्तम है, तो वन में जाकर निवास करना चाहिये, क्योंकि वहां विषय संनिहित नहीं होते, और जब वे पास ही नहीं, तो उनके सेवन से भी रुके रहेंगे। इस आशङ्का को इस श्लोक में दूर कर दिया है, क्योंकि जब शास्त्र का उपदेश है, कि मनुष्य पूर्वाह्ण, मध्याह्न और अपराह्न को निष्फल न खोवे, किन्तु यथाशक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के अनुष्ठान से सफल करे। परन्तु विषयों के सर्वथा असेवन से तो शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती, फिर किस प्रकार मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान कर सकता है? इस लिये शास्त्र का उपदेश विषयों में राग की निवृत्ति के लिये है, और यह प्रयोजन विषयों के असेवन मात्र से सिद्ध नहीं होता। क्योंकि, विषयों से इन्द्रियों का प्रत्याहरण उनके रोकने का उपाय तो है, तौ भी इस से विषयों में जो राग है, उसकी निवृत्ति नहीं होती। राग की निवृत्ति के लिये इस विचार की अपेक्षा है, कि विषय-सुख अचिरप्रभा (विद्युत्) के सदृश क्षणदृश्य होकर तिरोभूत होने वाला है, किञ्च, मनुष्य सहस्र २ आयु के प्रयत्नों से भी अपने समस्त मनोरथों को पूर्ण नहीं कर सकता, क्योंकि मनोरथों का कोई अन्त नहीं है। इस सारे विश्व के भीतर जो कुछ वस्तु पाई जाती है, वह किसी एक के मनोरथ पूर्ण करने के लिये भी पर्याप्त नहीं। इस लिये विषयों में आसक्त पुरुष इधर उधर भटकता है, और कभी शान्ति को उपलब्ध नहीं कर सकता। किञ्च, विषयसुख अनुभव के समय तो अमृत के सदृश प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में विष बन

जाता है। इस सुख का विपाक सर्वथा विरस है। सारे इन्द्रियों का तेज इस में जीर्ण हो जाता है, और आत्मा की उन्नति इसी से रोकी जाती है। यह सुख मनुष्य की तृप्ति का हेतु नहीं, और न यह सदा स्थायि है किन्तु आगमापायि है। किञ्च, यह अस्थिर सुख उस सुख (आत्मसुख) का प्रतिबन्धक है, जिसमें सच्ची तृप्ति और शान्ति वर्तमान है, और जिस के उपलब्ध होते ही ये सारे सुख अति तुच्छ प्रतीत होते हैं। क्या यह उचित है? कि इस क्षुद्र सुख में फंस कर उस परम आनन्द से अपने जीवन को वञ्चित करदें? इस लिये बांधने योग्य है यह मन और रोकने योग्य हैं ये इन्द्रिय, कि जिस से उस रस का लाभ हो सकता है।

"रसो वै स रसꣳह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति।

तैत्तिरीयोपनिषत्।

वह (परमात्मा) रस है (उस) रस को पाकर ही पुरुष आनन्दित होता है। और इसी रस को उपलब्ध करने से विषयों में जो सूक्ष्म राग है, उसकी निवृत्ति होती है। स्थूल राग तो कष्ट तप में स्थित, विषयों से बलात्कार इन्द्रियों को रोकने वाले अज्ञानी का और रोगी वा शोक ग्रस्त का भी दूर हो जाता है, परन्तु सूक्ष्म राग बराबर बना रहता है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २। ५९)

अर्थ—निराहार (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये इन्द्रियों का आहार हैं इनसे रहित) देही के विषय निवृत्त हो जाते

है, परन्तु इससे रस (सूक्ष्मराग) निवृत्त नहीं होता, वह रस उस परमात्मा को देखकर निवृत्त होता है २।५९। परन्तु इस सूक्ष्म राग की निवृत्ति से प्रथम इन्द्रियों को विषयों से रोक कर अपने वश में करना उचित है ॥

यदा संहरते चायं कूर्म्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

(गीता २।५८)

अर्थ—जब यह (साधक) पांचों इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से सर्वथा हटा लेता है, जिस प्रकार कूर्म्म (कछुआ) अपने अङ्गों को सर्वथा छिपा लेता है, तब उस की प्रज्ञा स्थिर होती है २।५८। जब कूर्म्म पर कोई प्रहार करने लगता है, तो वह अपने चारों पाद और एक मुख इन पांचों अङ्गों को भीतर छिपा लेता है। इसी प्रकार जिस समय इन्द्रिय विषयों के स्पर्श में उद्युक्त हों, उसी समय उनको विषयों की ओर से हटा लेना उचित है, इस प्रकार इन्द्रियों को विषयों से विमुख कर देने से प्रज्ञा स्थिर होती है ॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥

मनु० २।८८।

अर्थ—विद्वान् पुरुष अपहारि (अपनी ओर खींचने वाले) विषयों में विचरते हुए इन्द्रियों के संयम में यत्न करे, जिस प्रकार सारथि घोड़ों के (रोकने में प्रयत्न करता है)।८८। यदि

इन्द्रिय विषयों में विचरने वाले न हों, तो ये आकर्षक भी विषय क्या कर सकते हैं? अथवा इन्द्रिय निरङ्कुश हों, पर यदि विषय उनका प्रत्याख्यान (हटादेना) करने वाले हों, तो अपने आप ही संयम हो सकता है। परन्तु ये दोनों सापराध हैं। विषय इन्द्रियों को अपनी ओर खींचते हैं, और इन्द्रिय विषयों में स्वभाव से प्रवृत्ति रखते हैं। इसी लिये इन्द्रिय दुर्नियम्य हैं, इनके रोकने में पूरा यत्न करना चाहिये, जिस प्रकार सारथि रथ में जुड़े हुए, स्वभाव से चञ्चल घोड़ों के रोकने में यत्न करता है, तो वे बिना इच्छा के उन्मार्ग से नहीं ले जाते, किन्तु अधीन हो जाते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियों को भी आज्ञाकारी बनाना चाहिये।

इस बात में सावधान रहो, कि कोई एक इन्द्रिय भी कभी विषय-प्रवण न हो क्योंकि—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥

मनु० २। ९९।

अर्थ—सारे इन्द्रियों में से यदि एक इन्द्रिय भी, झर जाता है। (स्वतन्त्रता से विषयमें प्रवृत्त होता हुआ नहीं रोका जाता किन्तु विषय की ओर झुक जाता है) उससे इस की प्रज्ञा इस प्रकार झर जाती है, जिस प्रकार चमके पात्रसे जल (एकही छिद्र होने पर भी सारा रिक्त हो जाता है) ।९९। यदि एक भी इन्द्रिय विषय की ओर झुक जावे, तो मन उस में लग जाता है। और इतर इतर इन्द्रियों में भी धैर्य नहीं रहता, वे भी विषयों की ओर झुक जाते हैं। और तब इस की सारी प्रज्ञा नष्ट हो जाती

है। इस लिये सारे इन्द्रियों का युगपत् ही संयम करना चाहिये, एक के असंयम में दूसरों का संयम व्यर्थ है ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

गीता २। ६७—६८।

अर्थ—(अपने२ विषयों में) विचरते हुए इन्द्रियों के पीछे जब मन को जाने दिया जाता है (उन विषयोंके चिन्तन में इन्द्रियों के साथ कर दिया जाता है) तो (श्रोत्रादि इन्द्रियोंके शब्दादि विषयों को अलग २ ग्रहण करने वाला मन) इस की प्रज्ञा को हर ले जाता है (अर्थात् आत्मा की ओर से हटा कर विषयों की ओर लगा देता है) जिस प्रकार (प्रतिकूल) वायु नौका को जलमें (बलात्कार मार्गसे हटाकर उन्मार्गमें ले जाताहै)६७। जिस कारण मनोऽनुविधायि इन्द्रिय बलात्कार प्रज्ञा को हर लेते हैं, इसलिये हे महाबाहो! (बड़ी भुजा वाले अर्जुन) जिसके इन्द्रिय सब प्रकार इन्द्रियों के विषयों से रोके गए हैं, उसकी प्रज्ञा स्थिर है। ६८। ध्यान रक्खो, कि जिस प्रकार इस बात की परीक्षा है, कि कोई एक इन्द्रिय भी विषय की ओर न झुके, इसी प्रकार इस बात की भी परम आवश्यकता है, कि विषयों का कभी चिन्तन भी न किया जावे, क्योंकि विषय-चिन्तन सारे अनर्थों का मूल है ॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।

गीता २ । ६२- ६३ ॥

अर्थ—विषयों के चिन्तन से पुरुष की उन में आसक्ति होती है, आसक्ति से काम (तृष्णा, अधिक आसक्ति, वह दशा जिसमें पहुंच कर मनुष्य विना विषयभोग के रह नहीं सकता) उत्पन्न होता है, और काम से क्रोध उत्पन्न होता है (काम उत्पन्न हो जावे और इष्ट विषय सन्निहित (निकट) न हों तो उस के प्रतिबन्धक वा प्रणाशक मनुष्यों और इतर प्राणियों पर क्रोध उत्पन्न होता है अथवा प्रतिवन्ध न करने वालों पर भी भ्रान्ति से यह समझ कर कि इन्होंने हमारे इष्ट का विघात किया है-क्रोध उत्पन्न होता है) क्रोध से सम्मोह (कार्य्याकार्य्य का अविवेक,क्योंकि क्रुद्ध मनुष्य माता पिता और गुरु को भी झिड़क देता है) होता है। सम्मोह से स्मृति का भ्रंश (अर्थात् ऐसी अवस्था में शास्त्र और आचार्य्य के उपदेश भूल जाते हैं, उन का स्मरण नहीं रहता है) स्मृति भ्रंश से बुद्धि का नाश (अर्थात् अन्तः करण कार्याकार्य की विवेचना के भी योग्य नहीं रहता) और बुद्धि के नाश से नष्ट हो जाता है, पुरुष तव तक ही पुरुष है, जब तक उसका अन्तः करण कार्य्याकार्य्य की विवेचना के योग्य है। जब यह योग्यता उस से दूर हुई तब पुरुष नष्ट हो जाता है (पुरुष पुरुष नहीं रहता) ॥ ६८ ॥ अत

अत्र सब से उत्तम उपाय यह है कि मन को विषयों के चिन्तन से सर्वथा रोक लिया जावे। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा —

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

गीता ६। ३०॥

अर्थ— हे कृष्ण! मन बड़ा चञ्चल, प्रमथन शील (क्षोभक, शरीर और इन्द्रियों को विक्षिप्त बना देने वाला) बलवान् (किसीसे न रोका जाने वाला) और दृढ़है (अतएव) मैं उसका रोकना वायु (प्रतिकूल गति वाले महावात के रोकने) के सदृश अति दुष्कर समझता हूं। ३४। इस पर श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया —

असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं परम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

गीता ६ ३५॥

अर्थ—मन दुर्निग्रह और चञ्चल है, हे महाबाहो! इस में कोई संदेह नहीं, तौ भी हे कौन्तेय! (कुन्ती के पुत्र) अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जाता है ॥ ३५॥ तामस और राजस वृत्तियों का परित्याग करके विमल सात्विक वृत्ति में स्थितिके निमित्त प्रयत्न करना अभ्यासहै। अभ्यासका सामर्थ्य अनुभव सिद्ध है, वे कार्य्य जो प्रथम अति-दुष्कर प्रतीत होते हैं, अभ्यास उनको अति सुकर बना देताहै। इसी प्रकार यही मन जो बलसे विषयों की ओर खींच ले जाता है, अभ्यास से शनैः२ वशीभूत हो जाताहै। यही अभ्यास जब दीर्घकाल और निरन्तर

आसेवन किया जाता है तो फिर दृढ़ भूमि में पहुंच जाता है, कि वही मन जो प्रथम कठिनता से भी वश में नहीं आ सकता था, अब बिना प्रयत्न के सर्वथा वश में रहता है। और वैराग्य यह है कि ऐहिक पारलौकिक विषयों में वितृष्ण रहना। जब लौकिक और दिव्य विषयों की प्राप्ति में भी चित्त को कोई प्रलोभन नहीं होता, किन्तु उनके तात्कालिक और पारिणामिक दोषों को देखता हुआ उनके भोग में आसक्त नहीं होता, तब वैराग्य स्थिर होता है। इस प्रकार जब अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन मोहनीय, रञ्जनीय और कोपनीय (मोह, राग और द्वेष के जनक) विषयोंके साथ संयुक्त नहीं होता, तब सारे इन्द्रिय चित्त के स्वरूप के अनुकारी बन जाते हैं। चित्तके जीता जाने पर सारे इन्द्रिय जीते जातेहैं, उनके जीतने के लिये उपायान्तर की अपेक्षा नहीं रहती। जिस प्रकार मधुकर-राज (मधुमक्खियोंकी रानी) के उड़ने पर सब मक्खियें उड़ जाती हैं और उसके बैठने पर सब बैठ जाती हैं, इसी प्रकार चित्त के रुकने पर सब इन्द्रिय रुक जाते हैं। इसीका नाम प्रत्याहार है और इसी से इन्द्रियों की परमा वशता (अत्युत्तम अधीनता) होती है। इसलिये चित्त का रोकना सब से उत्तम उपाय है। जब मनुष्य इस प्रकार इन्द्रियों को वश में कर लेता है, तो सर्व सिद्धियें उसके हस्तगत हो जाती हैं॥

जितेन्द्रिय पुरुष के हृदय का गाम्भीर्य शास्त्रकारों ने इस प्रकार वर्णन किया है—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥ मनु. २।९८

अर्थ—जो मनुष्य सुनकर, छूकर, देख कर, खाकर और सूंघ करके न हृष्ट होता है और न ग्लानि (खेद, मनोदुःख) को प्राप्त होता है, वह जितेन्द्रिय समझना चाहिये। ६८। (जब अनुकूल वा प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति में मानस सुख दुःख स्पर्श नहीं करते तब मनुष्य जितेन्द्रिय बनता है, केवल अप्रवृत्ति से नहीं, सो यहां तक संयम करना चाहिये, कि विषयों की अनुकूलता और प्रतिकूलता में आत्मा को कोई हर्ष शोक न हो)॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिःपर्य्यवतिष्ठते॥गी॰२।६४-६५.

अर्थ—आज्ञाकारी मन वाला पुरुष राग द्वेष से वियुक्त (क्योंकि इन्द्रियों की स्वाभाविकी प्रवृत्ति राग द्वेष से होती है) अपने वशीभूत इन्द्रियों से विषयों को उपलब्ध करता हुआ प्रसन्नता (स्वास्थ्य, अन्तःकरण की निर्मलता) को प्राप्त होता है। ६४। प्रसन्नता में इस के सब दुःखों की हानि हो जाती है (किञ्च) प्रसन्न चित्त वाले की बुद्धि शीघ्र अवस्थित (निश्चल) हो जाती है। ६५। (जिस लिये इस प्रकार प्रसन्न चित्त वाला और अवस्थित बुद्धि वाला पुरुष कृतकृत्य हो जाता है इसलिए राग द्वेष से वियुक्त इन्द्रियों से शास्त्राविरुद्ध अवर्जनीय विषयों में सावधान होकर विचरे)।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

गीता २। १४—१५॥

अर्थ—हे कुन्ति के पुत्र! विषयों के सम्बन्ध, शीत उष्ण और सुख दुःख के देने वाले आगमापायि और अनित्य हैं, हे भारत! उनको सहार (अर्थात् इनमें हर्ष और विषाद मत कर)। (१४)। हे पुरुष-श्रेष्ठ! ये विषय जिस धीर (हर्ष विषाद रहित) पुरुषको नहीं हिलाते, जो सुख और दुःख में एक-रस रहता है, वह मोक्ष के लिये समर्थ होता है॥ १५॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

गीता २। ६९—७०—७१॥

अर्थ—जो सब भूतों के लिये रात्रि है संयमी पुरुष उस में जागता है, जिस में (इतर) भूत जागते हैं, देखने वाले मुनि के

लिये वही रात्रि है। जिस प्रकार नक्तंचर (रात को निकलने वाले) जन्तुओं के लिये जो दिन है, वही दूसरे जीवों के लिये रात्रि है। और जो उनके लिये दिन है, वही नक्तंचरों के लिये रात्रि है। इसी प्रकार सयमी पुरुष जिस आत्मदर्शन और परमार्थ सुख में जागता है असंयमी पुरुष उस ओर से सर्वथा सोए हुए हैं। उनको आत्मा और आत्म-सुख का कोई प्रकाश नहीं होता। और असंयमी पुरुष जिन विषयों के विचार और सुख में जागते हैं, संयमी पुरुष उस ओर से सर्वथा सोया हुआ है। क्योंकि विषय सुख उसके सामने तुच्छ है, जिस आनन्द को वह अनुभव कर रहा है। और इसी लिये वह उस आनन्द को छोड़ कर विषयों में नहीं फंसता। ६९। (जलों) से आपूर्य्यमाण और निश्चल अवस्थितिवाले समुद्र में जिस प्रकार जल प्रवेश करते हैं उसी प्रकार सब कामना जिस में प्रवेश करती हैं, वह शान्ति को प्राप्त होता है, विषयों का अभिलाषी नहीं (जो विषयों की प्राप्ति से विकार को प्राप्त नहीं होता किन्तु समुद्र के सदृश एक रस गम्भीर बना रहता है) उसी को शन्ति का लाभ होता है और विषयों की प्राप्ति जिसकी अवस्था को बदल देती है वह कभी शान्ति को प्राप्त नहीं होता। ७०। जो पुरुष सब विषयों का त्याग कर निःस्पृह हुआ ममता और अहंकार से रहित होकर विचरता है वह शान्ति को प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

आओ हम इन साधनों की ओर फिर ध्यान दें, जिन से इन्द्रिय वश में किये जाते हैं। (१) इन्द्रियों को विषयोंके सेवन से अलग रखना (२) विषयों के सेवन से उस समय में होने वाले और परिणाम में होने वाले सुख और फलों का विचार

(३) विषय और इन्द्रियों के सहज सम्बन्ध को समझते हुए उनके रोकने में पूरा पूरा प्रयत्न करना (४) इस बात का ध्यान रखना कि कोई एक भी इन्द्रिय विषय की ओर झुकने न पावे (५) विषयों के चिन्तन और विषय कथा से अलग रहना। (६) चित्त को विषयों से विमुख करके बाह्य इन्द्रियों को उसके अनुकारि बनाना (७) अभ्यास और वैराग्य । (८) और सब से बढ़कर उपाय परमात्मा की भक्ति है, कि जिस के हृदय-वेश्म में प्रवेश करते ही और सब उपाय स्वयं उपस्थित हो जाते हैं। और यही उपाय है जो विषयों के सूक्ष्म राग का भी समूल उच्छेदन करने वाला है । आओ हम इन्द्रियों के छिद्रों (दोषों) को दूर करने के लिये भुवनपति की शरण गत हों, कि समस्त भुवन हमारे लिये कल्याण-कारी हों और हम परप्रेमास्पद (प्रभु) के प्रेम में स्थिर रह कर परम आनन्द का अनुभव कर सकें ॥

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥ यजु० अध्याय ३६। मन्त्र २ ॥

अर्थ—जो मेरे नेत्र वा हृदय का छिद्र और मन का गढ़ा है, बृहस्पति उसको पूर्ण करे। और हमारे लिये कल्याण-कारी हो जो (इस समस्त) ब्रह्माण्ड का स्वामी है ॥

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ आत्मबन्धुता ॥

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

यजु० ४० । ३ ॥

अर्थ—जो कोई आत्महत्यारे जन हैं, वे मर कर भी उन (प्रकाश रहित, अन्धकार से घिरे हुए) लोकों को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

इस मन्त्र में उपदेश किया है, कि मनुष्य को आत्महत्या से बचना चाहिये, क्योंकि यह मानुष जन्म ही है, जिस में आत्मा को पूर्ण उन्नति मिल सकती है और जिस में उसकी सारी शक्तियों का आविर्भाव हो सकता है। यदि इस को भी व्यर्थ खो दिया तो फिर आत्महत्या में क्या भेद है? जिन्होंने इस जन्म को चरितार्थ किया है, वे अपने आत्मा का उद्धार करना जानते हैं और इसी लिये वे अपने आत्माके आप बन्धु हैं ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

गीता ६ । ५—६ ॥

अर्थ— आत्मा से आत्मा का उद्धार करे, आत्मा को नीचे न गिरावे । क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बन्धु और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है॥५॥आत्मा उसके आत्मा का बन्धु है, जिस ने आत्मा को आत्मा से जीत लिया । अजितेन्द्रिय (पुरुष) का आत्मा ही शत्रु-भाव में शत्रु के सदृश वर्तता है ॥६॥

एक धन-हीन पुरुष धनी पुरुष के ऐश्वर्य्य को देखकर अपने आप को दीन और अतिक्षुद्र समझता है । एक बन्धु-हीन पुरुष बन्धुओं वाले के सामने अपने आप को निर्बल पाता है । एक आपद्ग्रस्त पुरुष अपने ऐश्वर्य्य के नाश का हेतु शत्रुओं को जानता है और अपने आप को बड़ा मन्द-भाग्य समझता है । परन्तु वह नहीं समझता, कि मैंने स्वयं अपने आप को दीन और निर्बल कल्पना कर लिया है, और मैं आप ही अपना शत्रु हूं । क्योंकि वास्तव में जब आत्मा स्वयं अपने उद्धार का यत्न करता है, तो उसके दृढ़ व्यवसाय के आगे कुछ असाध्य नहीं रहता । विघ्न भी उसके सामने आते हैं, असाफल्य भी उस को अपना मुख दिखलाती है, परन्तु, आत्मा दीन रहना नहीं चाहता, वह अपने उद्धार के प्रयत्न में है । अत एव अन्ततः विघ्न भी अपनी रोक हटा लेते हैं और सिद्धि भी आ कर चरण चूमती है । अतएव मनु महाराज का उपदेश है—

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ।

मनु० । ४ । १३७ ॥

अर्थ—पहिली असमृद्धियों से अपना अपमान न करे, (अर्थात् कार्य्य करने के प्रयत्न को निष्फल देखकर न समझे, कि मैं मन्द-भाग्य हूं, इस अवसर में मेरा प्रयत्न सफल नहीं हुआ, आगे क्या होगा ? इस प्रकार अपने आप को नीचे न गिरा दे) (अपितु) मृत्यु तक श्री को ढूंढे (अन्तिम श्वास तक अपने कार्य्य की सिद्धि के लिये प्रयत्न करे) और कभी इस (श्री) को दुर्लभ न समझे । १३७ ।

इसी प्रकार आत्मा में वह वीरता है. जिस से सारे शत्रुओं को दूर कर सकता है। शत्रु शत्रु नहीं रहते, मित्र बन जाते हैं।

आत्मना विन्दते वीर्य्यम्। केन० ३।२।४॥

अर्थ—आत्मा से वीर्य्य (वीरता. बल) मिलता है।

जिस ने अपने भीतर के शत्रुओं को नहीं जीता, वह अपना शत्रु आप बन रहा है। उस के बाहिर के शत्रु जागें वा सोए पड़े रहें, पर उसका ऐश्वर्य्य अवश्य उस से छिन जाता है। हां जिस ने अपने भीतर के शत्रुओं को जीत लिया है, वह अपना आप बन्धु है उसको शत्रु आक्रमण नहीं कर सकते। क्योंकि, जो अपना आप बन्धु है, उसके सभी बन्धु बन जाते हैं॥

परन्तु सचमुच मनुष्य उस समय अपना बन्धु बनता है, जिस समय संसार के प्रिय वस्तु उस को आत्म-कल्याण से नहीं खींच सकते। जिस समय विषयों का प्रातिभासिक सुख उस को आत्मरस से वञ्चित नहीं कर सकता, जिस समय अधर्म का दृश्य-फल उसको धर्म के मार्ग से गिरा नहीं सकता, जब कोई भी प्रलोभन उस के चित्त को नहीं हिला सकता, किन्तु धर्म और अधर्म, श्रेय और प्रेय, आत्मसुख और विषय-सुखका विवेक उस के हृदय में जागरूक रहता है। और वह धीर बनकर अपने आप को अपने वश में रखता है॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।

कठ० उ० २।२।

अर्थ—श्रेय और प्रेय (दोनों) मनुष्य को प्राप्त होते हैं। धीर पुरुष उन दोनों की आलोचना करके अलग अलग कर लेता है। धीर पुरुष प्रेय को त्याग कर श्रेय (कल्याण) को स्वीकार करता है, और मन्द पुरुष अपने योग क्षेम से प्रेय को स्वीकार करता है ॥ २ ॥

मनुष्य के सामने जब यह अवस्था आती है, कि सांसारिक सुखों का आकर्षण उस को प्यारा लगता है, विषय सुख अपने प्रेम को उस के मन में निवास देता है उस समय वह पुरुष जो इस सुख और पारमार्थिक-सुख में विवेक नहीं रखता, यह प्रेम मृग तृष्णा के सदृश उस को धोखा दे जाता है। और इसी लिये वह अपना सारा बल इसी सुख के सम्पादन में व्यय करता है, और अपनी सारी प्रीति इसी के समर्पण कर देता है। परन्तु जिस के हृदय में इस का विवेक है, वह इस की असारता को पूरा २ जानता है वह समझता है, कि यह क्षुद्र विषय-सुख चिरकाल तक रहने वाला नहीं है, यह अध्रुव सुख उस ध्रुव सुख का प्रतिबन्धक है। और इसी लिये वह प्रेय को परे फेंक कर श्रेय को बड़े आदर के साथ स्वीकार करता है॥

याज्ञवल्क्य ऋषि गृहाश्रम को छोड़कर संन्यास लेने को थे, तो उन्हों ने अपनी ब्रह्मवादिनी पत्नी मैत्रेयी से कहा है प्रिये ! मैं इस आश्रम से ऊपर उठना चाहता हूं, अब यह धन तुझे और कात्यायनी को विभाग करके दे जाता हूं। मैत्रेयी ने पूछा, भगवन् ! यदि सारी पृथिवी धन से पूर्ण हो, तो मैं उस से अमृत हूंगी वा नहीं ? " नेति होवाच याज्ञवल्क्यः " याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, नहीं, प्रिये ! कभी नहीं। ' यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन"

जैसे उपकरण (धन आदि सामग्री) वालों का जीवन व्यतीत होता है, वैसे तेरा जीवन व्यतीत होगा अमृत की तो धन से आशा नहीं है। मैत्रेयी यह सुन कर फिर बोली, "येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्य्याम्" जिस से मैं अमृत नहीं हूंगी, उस को लेकर क्या करूंगी ? "यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि" जो वस्तु भगवान् (आप) जानते हैं (जिस को जान कर इस को छोड़ते हैं) वही मुझे उपदेश कीजिये। तब याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्म-विद्या का उपदेश दिया॥

सो यह ध्यान रक्खो, कि प्रेय-पथ का परित्याग करके श्रेय-पथ का अवलम्बन करनेसे मनुष्य अपना यथार्थ बन्धु बन जाता है। इस अवस्था में सांसारिक शत्रु तो क्या, मृत्यु भी उस को आक्रमण नहीं कर सकता। मैत्रेयी ने इसी से अमृत लाभ किया॥

यह नियत नहीं कि हमारी दृष्टि में भी कोई उसका शत्रु न हो, कोई उस पर विपत्ति न हो। परन्तु वह वास्तव में अपना बन्धु इस लिये है, कि उसने धर्म को अपने आत्मा का कवच बना लिया है अब वह भीतर के शत्रुओंसे सर्वथा सुरक्षित है। और इसी लिये कोई संकट उसके आत्मा का नहीं, क्योंकि धर्म सुख में भी रक्षा करता है, दुःख में भी रक्षा करता है, श्री-सम्पन्न की भी रक्षा करता है, विपद्ग्रस्त की भी रक्षा करता है। धार्मिक पुरुष सदा उन्नति के पथ पर रहता है॥

हां जिसने अपने आप को अपने वश में नहीं किया, जिस को काम और क्रोध अपने वश में रखते हैं, वह अपना आप शत्रु है उसके कर्म उसको अधोगति की ओर ले जा रहे हैं। मृत्यु का पाश उसके लिये फैल रहा है। "लोके गुरुत्वं

"विपरीततां वा स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति" लोक में अपने कर्म ही मनुष्य को गुरु वा लघु बना देते हैं। "यात्यधोऽधो व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः। कूपस्य खनिको यद्वत् प्राकारस्य च कारकः" मनुष्य अपने ही कर्मों से नीचे २ को जाता है वा ऊपर २ को चढ़ता है; जिस प्रकार कूएं का खोदने वाला (अपने कर्म से नीचे २ जाता है) और कोठका बनाने वाला (ऊपर २ जाता है) ॥

कौन पुरुष है, जो अपने लिये सुख की अभिलाषा नहीं रखता ? कौन पुरुष है, जो अपनी उन्नति नहीं चाहता ? कौन पुरुष है, जो शत्रुओं को दूर करने की चेष्टा नहीं करता? कौन पुरुष है, जो मित्रों को लाभ पहुंचाने की इच्छा नहीं रखता ? और कौन पुरुष है, जो बन्धन से मुक्त होने की इच्छा नहीं करता ? यह सब इच्छाएं प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती हैं। परन्तु प्रश्न यह है, कि प्रत्येक मनुष्य इनको पूर्ण कर सकता है वा नहीं ? उत्तर यह है, कि कर सकता है, परन्तु वह जो आत्मबन्धु है, वह जिस के आत्मा में वीर्य्य है, वह जिसके हृदय को विषय तनिक नहीं हिला सकते। किसी देश का इतिहास पाठ करो, तो स्पष्ट प्रतीत होगा, कि वे पुरुष जिन्हों ने मानव समाज में परिवर्तन किया है, वे सब ऐसे नहीं थे, जो बाह्य सामग्री से सुसम्पन्न हों। उनमें ऐसे महापुरुष विद्यमान हैं, जिनके पास कार्य्यारम्भ के समय धन नहीं था, बन्धु नहीं थे, और शत्रुओं का दुर्भिक्ष नहीं था, तौभी उन्हों ने अपने कार्य्य को आरम्भ किया। और हम पाठ करते हैं कि उन के उद्देश पूर्ण हुए। अब प्रश्न यह है कि यह सामग्री उन को कहां से मिली ? जिस ने बिना धन के धन का कार्य्य कर दिखलाया,

जिसने विना वन्धुओं के वन्धुओं का आर्य्य कर दिखलाया,
जिस ने विना सेना के सेना का कार्य्य कर दिखलाया। उत्तर यह है. कि ये सारी सामग्री आत्मा में है "आत्मना विन्दते वीर्य्यम्"॥

हां यह सामग्री छिपी हुई है। और इसी लिये इस पर विश्वास न करके अपने आप को दीन, निर्बल और असमर्थ समझता है। परन्तु निःसंदेह. आत्मा दीन नहीं, निर्बल नहीं, असमर्थ नहीं। यह प्रकृति के बन्धनों को काट सकता है। यह प्रकृति को अपना सेवक बना सकता है। यह परमात्मा से योग करके परम आनन्द को अनुभव कर सकता है। हां यही उस आनन्द का अधिकारी है। परन्तु नियम यह है, कि यह स्वयं विषयों का दास न बने। यह स्वयं माया के धोखे में न फंसे। यह स्वयं आत्मासे कृपण न हो। यह स्वयं परमात्मासे परे न हटे। वे सर्वदा इसको अपनी शरण में लेने का अवसर देखते हैं। वे इस के हितकारी हैं। वे इस के सखा हैं। वे इस के योग्य सखा हैं। वे इस के बन्धु हैं, माता और पिता हैं, "स नो बन्धुर्जनिता स विधाता" फिर उन की मैत्री में इसको किस का डर है, उनकी बन्धुता में किस का भय है? "निर्भय होई भजे भगवाना" सांसारिक बन्धु, जिनको हम अपना बन्धु समझते हैं, इस में संदेह नहीं कि वे हमें प्यार करते हैं, हमारे सुख दुःख के साथी हैं, हृदय से हमारी भलाई चाहते हैं। पर कौन नहीं जानता, कि सांसारिक सम्बन्ध सब अपने प्रयोजन के हैं? अपनी अर्थ सिद्धि के लिये किसी बन्धु के एक कार्य्य को हानि पहुंचाओ, बन्धु बन्धु नहीं रहता, प्रत्युत शत्रु बन जाता है। उनकी बन्धुता तब

तक है, जब तक उनका प्रयोजन सिद्ध है। ध्यान करो, परमात्मा की बन्धुता की ओर! जिस में हमारा भला केवल हमारा भला ही अभीष्ट है। हम कुपुत्र बनकर उनसे स्नेह तोड़ देते हैं। वे ऐसी अवस्था में भी हमारे साथ स्नेह करते हैं। वे ऐसी अवस्था में भी हमारी रक्षा करते हैं। हम पाप से मलिन होकर उनको परे हटाते हैं, अपने जीवन को शून्य बना लेते हैं। वे ऐसी अवस्था में भी हमें अपनी ओर खींचते हैं। हमारे जीवन को शोभा देते हैं। हम कृतघ्न बनकर उनको भूल जाते हैं, पर वे हमें एक क्षण नहीं भुलाते॥

निस्सन्देह सांसारिक बन्धु हमारे इस शरीर के बन्धु हैं। हम नहीं जानते हैं, कहां से आए हैं, और कौन बन्धु हमारे पिछले जन्मों के हैं? न हम उन को अब बन्धु समझते हैं, न वे हमें बन्धु समझते हैं। न जाने परमात्मा के इस अनन्त ब्रह्माण्ड में उनका निवास किस लोक में है, और वे हम से कितना परे हैं। अब हमारा सुख और दुःख उन को कुछ विदित नहीं, न हम उनके कल्याण से अभिज्ञ हैं। यह सम्बन्ध केवल एक शरीर के साथ था, जिसके छूटते ही सारी बन्धुता दूर हो गई। न वे हमारे बन्धु रहे न हम उनके बन्धु रहे और न अब ये बन्धु सदा के बन्धु रहेंगे। ध्यान करो, उन बन्धुओं की ओर जो इस पृथिवी में अपना आयु भोग कर परलोक में चले गए, अब क्या उन की सेवा करते हो? अब किस बात में उन के साथी हो? अब क्या उनको प्रेम दिखलाते हो? अब तुम्हारा बन्धुपन कहां चला गया? कभी उनका वृत्तान्त नहीं पूछते? अब उनको भूल कर दूसरे बन्धुओं में मग्न हो रहे हो। निस्सन्देह तुम भी भूल जाओगे, और यह तुम्हारे बन्धु

तुम्हारी ओर से प्रेम तोड़ कर नए बन्धुओं में प्रेम स्थिर करेंगे। तुम किस को बन्धु मानोगे ? अनादि कालसे परमात्मा हमारे बन्धु हैं, अनन्त काल तक वे हमारे बन्धु रहेंगे। किसी समय में हम उनकी दया से हीन नहीं रहे। पाप में उन की कृपा को अनुभव किया है, मलिनता में उन की दया का हाथ देखा है। उन से परे हटने में भी उन को अपनी ओर खींचते देखा है। उन की शरण में जाने से उन के प्रीति नयनों को अपने ऊपर देखा है॥

सांसारिक बन्धुओं का प्रेम हमें मोह के मार्ग पर चलाकर मृत्यु की ओर ले जाता है. परमात्मा की बन्धुता हमें अपनी ओर खींच कर कर अमृत पिलाती है। ऐसा और कौन बन्धु है, तुम किस को बन्धु ढूंढोगे 'स नो बन्धुः' 'स नो बन्धुः' 'स नो बन्धुः' यही आत्म बन्धुता है, कि आत्मा हमारा बन्धु हो, यही आत्म बन्धुता है कि परमात्मा हमारा बन्धु हो, जो हमारे आत्मा का आत्मा सदा से बन्धु है। इसी में हमारा कल्याण है, इसीमें हम अन्धकार से बचते हैं। नेत्रोंको खोलो, परमात्मा की बन्धुता को अनुभव करो। अपने शरीर में बल होते हुए उठो और आत्म-कल्याण में तत्पर हो जाओ॥

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं, यावज्जरा दूरतो।
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता, यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा, यत्नो विधेयो महान्
संदीप्ते भुवने तु कूप-खननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

अर्थ—जबतक शरीर स्वस्थ है (जबतक) रोगों से रहित है, जब तक इन्द्रियों की शक्ति नष्ट नहीं हुई, जबतक आयु का क्षय नहीं हुआ (तब तक कल्याण हाथ में है) विद्वान् बनो और आत्म कल्याण में पूरा प्रयत्न करो, क्योंकि घरके प्रदीप्त होने पर कुंआ खोदना किस काम का उद्यम है ?

हे परम बंधो ! प्रेरणा करो कि हम तुम्हारी बंधुता को अनुभव करें । यौवन में तुम हमारे बंधु हो, बुढ़ापे में तुम हमारे बन्धु हो, सुख में तुम्हें बंधु समझें, दुःख में तुम्हें बंधु समझें । तुम्हारी बन्धुता हमारा प्राण हो, तुम्हारी बंधुता हमारा कल्याण हो ॥

ॐ शांतिः ! शांतिः !! शांतिः !!!

ओ३म्

उपदेश ॥ २ ॥

शिव-सङ्कल्प

"तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु"

"वह मेरा मन (अन्तःकरण) शिव (शुभ) सङ्कल्प वाला हो।

सङ्कल्प क्या है? और उसका कितना सामर्थ्य है? किस प्रकार शुभ एवं किस प्रकार अशुभ बन जाता है? और इन से क्या फल मिलता है? तथा यह किस के आधार है? और फिर उस आधार का कितना सामर्थ्य है? ये प्रश्न हैं, जिनकी विवेचना की ओर यह (तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु) उपदेश हमारे हृदय को आकर्षित कर रहा है॥

इस कर्म से यह इष्टफल सिद्ध होता है, इस प्रकार की बुद्धि (ख्याल) का नाम सङ्कल्प है। इसके अनन्तर इच्छा और प्रयत्न उत्पन्न होते हैं। ये मानस व्यापार हैं, जो सब कर्मों की प्रवृत्ति में मूल हैं। इनके बिना कोई भी प्राणी एक तनिक भी चेष्टा नहीं कर सकता। मनुष्य प्रथम किसी पदार्थ के स्वरूप को निरूपण करता है। उस के अनन्तर उसको यह ज्ञान होता है, कि इसकी प्राप्ति से मेरा अमुक कार्य्य सिद्ध होगा, यही सङ्कल्प है। इस के अनन्तर उसको यह इच्छा होती है, कि मैं इसको प्राप्त होऊं। तदनन्तर प्रयत्न उत्पन्न होता है, और वह उसकी प्राप्ति के लिये साधनों के उपादान (इकट्ठा करने) में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार सङ्कल्प सब प्रवृत्तियों का मूल है। कोई

कर्म उस के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता, कोई इच्छा उस के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती ॥

संकल्प-मूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्प-सम्भवाः ।
व्रतानि यम-धर्म्माश्च सर्वे संङ्कल्प-जाः स्मृताः॥

मनु० २ । ३ ।

अर्थ—इच्छा का मूल सङ्कल्प है। यज्ञ सङ्कल्प से उत्पन्न होते हैं, व्रत (जब तक मैं जीता हूं इस नियमका पालन करूंगा, इस प्रकार का दृढ़ अध्यवसाय) और यम धर्म (हिंसा चोरी और अनृत का त्याग इत्यादि) सब सङ्कल्प से उत्पन्न होने वाले माने गए हैं । ३ । जो नाम कर्म है, चाहे लौकिक हो वा वैदिक, शुभ हो, वा अशुभ, सङ्कल्प सब की जड़ है, बिना सङ्कल्पके न कर्तव्य कर्म में प्रवृत्ति और न निषिद्ध कर्म से निवृत्ति होती है। पहिले किसी कार्य्य के करने का मन में सङ्कल्प उत्पन्न होता है, पीछे वाणी से कहता है, फिर शरीर से उस कर्तव्य का पालन करता है। किसी समय मनुष्य के मन में सङ्कल्प उत्पन्न होता है, और वाणी से प्रकट करता है, परन्तु शरीर से सम्पादन नहीं करता वा कर नहीं सकता। और किसी समय सङ्कल्प उत्पन्न होता है, जिस को मनुष्य वाणी से प्रकट नहीं करता, पर हां शरीर के द्वारा सम्पादन कर दिखलाता है। एवं किसी समय मन में सङ्कल्प उत्पन्न होता है, जिस को न वाणी से प्रकट करता है, और न कर्म से कर दिखलाता है; किन्तु सङ्कल्प ही सङ्कल्प रह कर नष्ट हो जाता है। परन्तु कोई भी कर्म ऐसा नहीं, जिसको वाणी से प्रकट करें वा शरीर से

सम्पादन करें, पर मन में उससे पहिले सङ्कल्प उत्पन्न न हो। वे बृहत् कार्य्य जिन से संसार का मंगल और प्रजा का दुःख हरण हुआ है, और जिन कार्य्यों के करने वाले महापुरुषों का स्मरण हमारे अन्तःकरण को धर्म में स्थिर कर देता है, उन सब कार्य्यों से पूर्व उन महापुरुषों के हृदय में एक छोटा सा सङ्कल्प उत्पन्न हुआ है, जिस के अनुष्ठान ने उन को महापुरुष, शूरवीर और धैर्य्य-शाली बना दिया है। एक छोटा सा उज्ज्वल सङ्कल्प जब किसी एक हृदय में उत्पन्न हो रहा है, कौन जानता है, कि इस से एक दिन सारे मानव-समाज में पलटा आ जायगा। पाप के प्रवाह में बहते हुए मनुष्यों को धर्म्मरूप तट पर यही सङ्कल्प स्थापन करेगा। और अविश्वास की अग्नि से सन्तप्त हृदयों में भक्ति रूप सुधा जल की वृष्टि से शान्ति और शीतलता का निवास स्थिर करेगा। पर वह सचमुच इन सब कार्य्यों को कर दिखलाता है। और निःसंदेह इसके सामर्थ्य का कोई परिमाण नहीं पाया जाता। बृहत् से बृहत् कार्य्य जो इस समय जन-समुदाय को विस्मयान्वित कर रहे हैं, और उच्च से उच्च कार्य्य जो हमारे पूर्वजों की विद्या, धन, वीरता और उच्च-जीवन का परिचय दे रहे हैं, वे सब कार्य्य सङ्कल्प की अद्भुत शक्ति का पूर्ण परिचय हैं। निदान इस सङ्कल्प का सामर्थ्य है, कि मनुष्य को देवता बना दे और यही अशुभ होकर पशु-योनि से भी नीचे स्थावर-योनि तक पहुंचा देता है। इस एक की शुद्धि से मनुष्य के सारे कार्य्य पवित्र हो जाते हैं। और इसी एक की अशुद्धि से सारा जीवन अपवित्र बन जाता है। इसी लिये बार बार इस प्रार्थना के लिये श्रुति का उपदेश है "तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु"

इस सङ्कल्प का आधार मन है। उसके सामर्थ्य की पूर्ण विवेचना स्वयं भगवान् वेद ने की है, जिस विवेचना के साथ ही शुभ और अशुभ सङ्कल्प तथा उनके विपाक की विवेचना भी बुद्धि में आरूढ़ होती है॥ तद्यथा यजु ३४।१-६

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव-सङ्कल्प मस्तु ॥१॥

अर्थ—जो दैव (देव (आत्म) सम्बन्धि) मन, जागते हुए (पुरुष) का दूर निकल जाता है, और जो वैसे ही सोए हुए का चला जाता है। दूर जाने वाला ज्योतियों का ज्योति, एक वह मेरा मन शिवसङ्कल्प वाला हो ॥१॥

बाह्य इन्द्रिय बाह्य विषयों की प्राप्ति में उद्‌युक्त रहते हैं। वे अन्तरात्मा के दर्शन कराने में असमर्थ हैं। इस लिए अन्तर्यामी और अपने आत्मा के दर्शन कराने के लिए एक मन ही साधन है॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदु रमृतास्ते भवन्ति ॥

(कठ० उ० ६। ९)

अर्थ—इस (आत्मा) का स्वरूप दृष्टि का विषय नहीं है, न कोई इसको नेत्रों से देख सकता है। वह हृदय से, आत्मा से, मन से प्रकाशित होता है। जो इसको जानते हैं, वे अमृत हो

जाते हैं—"मनसैवानुद्रष्टव्य मेतदप्रमयं ध्रुवम्"। यह अप्रमेय और अटल स्वरूप (परमात्मा) मन से ही देखने योग्य है॥

मन के हारे हार है मन के जीते जीत।
पार ब्रह्म को पाइये मन ही की परतीत॥

फिर यही मन जाग्रत अवस्था में उन स्थानों की सैर कराता है, जहां न नेत्र और श्रोत्र की पहुंच है, और न किसी और इन्द्रिय की प्राप्ति का सम्भव। करोड़ वया करोड़ परार्ध्य योजन वा इससे भी अधिक दूरी क्यों न हो, जिस को हम ध्यान में लासकते हैं, मन एक क्षण में वहां पहुंच जाता है। मानो इसके सामने दूरी कोई वस्तु ही नहीं। संसार में अद्भुत वेग रखने वाले कई पदार्थ विद्यमान हैं, जिनके वेग का ध्यान, करने से मन भी विस्मित हो जाता है, परन्तु इस का अपना वेग इतना प्रबल है, कि उसके सामने बड़े बड़े वेग पराभूत (मात) हैं। पृथिवी की गति प्रति घण्टे में ६५०६८ मील है। और इस वेग के साथ भी उसको सूर्य्य की परिक्रमा करने में, ३६५ दिवस ६ घड़ी ३० पल और १० विपल व्यतीत होते हैं। परन्तु मन एक क्षण में उसी कक्षा पर सूर्य्य के चतुर्दिक् घूम जाता है। शनैश्चर ग्रह प्रति घण्टे में २१ सहस्र मील चलकर भी साढ़े २९ वर्ष में एक वार सूर्य्य की प्रदक्षिणा करता है। और नैपच्यून ग्रह प्रचण्ड वेग के साथ सूर्य्य के चतुर्दिक् परिभ्रमण करता हुआ ६, ०१, २६, ७१० दिवस में अपनी एक गति पूर्ण करता है। जिसमें हमारे सैंकड़ों वर्ष बीत जाते हैं। तौ भी मन इन दोनों की कक्षाओं पर एक क्षण में ही समन्तात् परिभ्रमण कर जाता है। सब से बढ़कर प्रकाश की गति है, जो एक सैकण्ड (२½ विपल) में एक लाख छयासी सहस्र

मील है। सूर्य्य हमसे इतनी दूर है, कि इस गति से भी उसका प्रकाश हमारे पास किञ्चिदधिक आठ मिन्ट में पहुंचता है। और इतनी दूरी पर भी नक्षत्र देखे गए हैं, जिनका प्रकाश हमारे पास पहुंचने में एक सहस्र वर्ष बीत जाता है। परन्तु ज्योतिर्विद्या के जानने वाले बतलाते हैं, कि इस ब्रह्माण्ड में वे नक्षत्र वर्तमान हैं, जिनका प्रकाश जब से पृथिवी बनी, उस समय से पृथिवी की ओर चला आरहा है, पर अभी तक इसके पास नहीं पहुंचा। ध्यान करो कि वे नक्षत्र हमसे कितनी दूर हैं। तौ भी यदि उस नक्षत्र तक एक रेखा कल्पना करें, जिस रेखा पर कि उसके किरण पृथिवी की ओर आरहे हैं। फिर मन को आज्ञा दें, कि उस रेखा पर से होता हुआ उस नक्षत्र में पहुंचे। तो आप देखेंगे, एक २ किरण पर पाओं रखता हुआ उस सारी रेखा पर से निकलकर इतनी जल्दी उस नक्षत्र में पहुंच गया है, कि एक सैकण्ड भी बीतने नहीं पाया॥

इसमें कोई संदेह नहीं, कि मनका वेग सर्वोपरि है, औरइसका परिमाण करना अत्यन्त दुःसाध्य है, इसीलिए भगवान् वेद का उपदेश है "मनसो जवीयः" "परमात्मा मनसे अधिक वेग वाले हैं" क्योंकि सांसारिक पदार्थों में किसी पदार्थ का वेग मन के तुल्य नहीं, जिसको परमात्माके वेगकी तुलना में बतलाया जावे॥

फिर जिस प्रकार जाग्रत् अवस्था में यह मन प्रत्येक कार्य्य को करता है स्वप्न में भी ठीक उसी प्रकार करता है। और ठीक जाग्रत के सदृश ही निकट और दूरवर्ती स्थानों की सैर कराता है। और शत्रु वा मित्र अनिष्ट वा इष्ट की अनुपस्थिति में भी स्वयं शत्रु और मित्र अनिष्ट तथा इष्ट की कल्पना करता है, लड़ता और झगड़ता है, भागता और

भगाता है, मरता और मारता है, उचित और अनुचित कर्म करता है, और स्वयमेव शोकातुर और हर्षयुक्त होता है। और जो सहस्रों कोस दूर विद्यमान होता है, उसको देखता और सुनता है। और अनेक प्रकार की अद्भुत, घृणित और अभिमत आकृतियें स्वयं बना लेता है। बिना पक्षों के उड़ता है, और बिना तैरने की विद्या के तैरता है। आश्चर्य यह है, कि अपने शरीर और स्थान को नहीं छोड़ता, फिर भी सहस्रों कोस दूर जाता है, और सब प्रकार के कर्म करता है, और प्रत्येक इन्द्रिय से उसका अपना काम लेता है। शरीर में न रथ होते हैं, न घोड़े, न मार्ग, और न उद्यान और न पर्वत, तो भी यह सब कुछ प्रत्यक्ष बना लेता है, और सुशिक्षित घोड़ों वाले रथ पर आरूढ़ करा के उत्तम २ पुष्पवाटिका, उद्यान और पर्वतों की सैर करा लाता है॥

स्मरण रक्खो कि स्वप्न भी हमारी अवस्था के जांचने का एक अद्भुत साधन है। वह पुरुष जिसका मन किसी के धन को देखकर ललचा गया है। यदि वह शारीरिक चेष्टा से पाप नहीं करता, तो वह समझता है कि मैं पाप से बच गया। और दूसरे लोग भी उसको धर्मात्मा जानते हैं। परन्तु वह स्वप्न में क्या देखता है, कि वही धन, जिसके लिये मन ललचाया था, उसके सामने पड़ा है। चारों ओर दृष्टि देता है, कि कोई देख तो नहीं रहा, जब निश्चय होता है, कि कोई नहीं देखता, तो झट उस धन को लेकर भाग जाता है। भयभीत होकर चारों ओर देखता जाता है, कि कोई आकर पकड़ न ले। मार्ग में धन के स्वामी को आता देखकर छिपने के लिये इधर उधर भागता है और प्रत्येक दिशा में उस पुरुष को अपने पीछे

देखता है। बड़ी घबराहट में पड़ जाता है। भय के कारण प्राण कलमल आ जाते हैं, कि इतने में निद्रा खुल जाती है। देखता है कि भय के कारण छाती धड़क रही है, परन्तु भय का कोई भी कारण विद्यमान नहीं। न मैंने चोरी की है, और न कोई मेरे पीछे है। यह केवल स्वप्न था, और मैं व्यर्थ ही भयभीत हुआ। परन्तु वह नहीं जानता, कि यह भय सच्चा था। मन का वह संकल्प जो उसका चोरी की ओर चला गया था। उसने मनके भीतर चोरी के संस्कार उत्पन्न कर दिये हैं। अब यह मन स्वप्न में उसको बतलाता है, कि मत समझो, मैंने चोरी नहीं की, मैं पाप से बच गया, और लोग मुझे धर्मात्मा समझते हैं। नहीं, तू चोर है। और स्पष्ट देख, कि तू चोर है। तू पाप से नहीं बचा, तूने पाप किया है। और स्पष्ट देख ले, कि तूने पाप किया है। लोग तुझे धर्म्मात्मा समझें, परन्तु मैं तुझे धर्म्मराज के सामने धर्म्मात्मा नहीं बनने दूंगा। क्योंकि मैं चित्रगुप्त हूं। और देख ले, कि मैंने तेरे इस चरित्र के चित्र को गुप्त रख लिया है। अब विश्वास रख, कि पाप प्रथम सङ्कल्प में उत्पन्न होता है। यदि तू लोगों की दृष्टि में शुद्ध है, पर तूने अपने सङ्कल्प को शुद्ध नहीं किया, तो तू पुण्यात्मा नहीं है, और निःसन्देह पुण्यात्मा नहीं है। तू धर्म्मात्मा तभी बन सकता है, जब तेरे सङ्कल्प के भीतर केवल धर्म की स्थिति होगी, और दृढ़ स्थिति होगी। जब इस में पाप को लेशमात्र भी स्थान नहीं रहेगा। यही शिवसंकल्प है, जो शिव की प्राप्ति का पूर्ण साधन है। इसी प्रकार एक युवक पुरुष जब परस्त्री को देखकर धर्म में स्थिर नहीं रहता। फिर यदि वह शारीरिक कुकर्म से बच जाता है, तो वह

समझता है, कि मैं कुकर्मी नहीं हूं। परन्तु यही स्वप्न अपनी अवस्था में उन संस्कारों को उसके सामने लाता है। और यह उसके फल को प्रत्यक्ष देखता है। मानों मन वतला रहा है; अरे पापी! तू क्या समझता है, कि मैंने पाप नहीं किया। नीच! तू नीच है और यह तेरी नीचता तेरे सामने है। अब भी समझ, इस नीचता को दूर कर। पाशव-वृत्तियों से अपने आप को हटा, और मनुष्यत्व को चरितार्थ कर।

निदान स्वप्न हमारी अवस्था को हमारे सामने रख देता है, और हम समझ सकते हैं, कि हमारा जीवन किस ओर जा रहा है। एक धर्म्मात्मा पुरुष का जीवन जो शिव सङ्कल्पों से पूरित है, स्वप्न उसके लिये एक हर्ष का स्थान हैं। वह स्वप्न में भी लोगों की भलाई करता है। परोपकार में उद्युक्त रहता है। यज्ञमें प्रवृत्त होता है। जगत् का अन्धकार दूर करनेके लिये व्रत धारण करता है। और जन-समाज में धर्म्म-सञ्चारके लिये दीक्षा लेता है। इन सब कर्म्मों का अनुष्ठान करता है, और कर्तव्य के परिपालन द्वारा हृदय को आनन्द से परिपूर्ण बना लेता है। स्वप्न में परमेश्वर की भक्ति करता है। उसके प्रेम में मग्न होता है। ध्यान लगाता है, और उसके स्वरूप का दर्शन करता है। मानों स्वप्न भी धार्मिक पुरुष के लिये स्वर्ग का धाम है। जिस में उसका हृदय सुख और शान्ति, हां, केवल मात्र सुख और शान्ति को अनुभव करता है।

फिर यह मन एक और प्रकार से भी दूर जाने का सामर्थ्य रखता है। यद्यपि कोई वस्तु अभिमत वा घृणित इस के सामने न हो, और कोई भी इस को किसी प्रकार क्लेश न देवे, तथापि यह अपने आप ही शोक और क्लेश के वशीभूत

होकर रोने और ठण्डे श्वास लेने लगता है। और कभी हर्ष और आनन्द की सामग्री के अविद्यमान होने पर भी हंसता और प्रसन्न होता है, और कभी यह अपने आप को समस्त संपत्तियों का स्वामी और सर्व प्रकार की बाह्य और आध्यात्मिक समृद्धियों से समृद्ध समझता है, और बड़े अहङ्कार से कहता है, कि मेरे तुल्य कोई नहीं, अपितु हुआ भी नहीं, और होगा भी नहीं। कभी अपने आप को अत्यन्त निर्धन निर्बल और क्षुद्र से क्षुद्र कल्पना करता है। कभी उन कर्मों के करने को ध्यान देता है, जिनसे सर्वसाधारण को लाभ पहुंचता है, और हानि किसी को नहीं होती और अपने लोक और परलोक के लिये लाभदायक होता है। कभी इस प्रकार का चिन्तन करता है, जिससे सारे जगत् की शान्ति और सुख का नाश हो, और अपना लोक और परलोक दोनों विगड़े। कभी यह उस वस्तु को नहीं देखता है जो नेत्रोंके सामने धरी हो। और कभी उस वस्तुको देखता है,जो कभी विद्यमानही नहीं हुई और न होगी॥

किञ्च, यह मन ज्योतियों का एक ज्योति है। सब इन्द्रिय इसी से प्रकाश पाते हैं। एक पुरुष का मन किसी विचार में मग्न है। नेत्रों के सामने से कोई पुरुष निकल जाता है, पर वह उसको नहीं देखता। कानों तक कई शब्द पहुंचते हैं, पर वह उनको नहीं सुनता। यह क्यों? इस लिये कि मन उन इन्द्रियों के साथ नहीं है। अतएव वे अपने विषयों को प्रकाश नहीं कर सकते। जिस प्रकार बाह्य प्रकाश के विना देखना असम्भव है। जब तक नेत्र के परदे पर प्रकाश नहीं पड़ता, तब तक कुछ दिखलाई नहीं देता। इसी प्रकार जब तक मन साथ न हो, कुछ दिखलाई नहीं देता। नेत्र, प्रकाश

और मन तीनों मिलकर काम करते हैं। सोते समय कई लोगों के नेत्र खुले रहते हैं, पर कुछ दिखाई नहीं देता। श्रोत्र सब के खुले होते हैं, पर कुछ सुनाई नहीं देता, क्योंकि उनका प्रवर्तक मन उनके साथ नहीं है। और इनका क्या सामर्थ्य है, कि उसकी आज्ञा के बिना किसी कार्य्य में प्रवृत्त होसकें॥

अन्यच्च—

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो। यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ २॥

अर्थ—कर्म-निष्ठ, बुद्धिमान्, धीर (पुरुष) ज्ञान होने पर यज्ञ में जिस से कर्मों को करते हैं, जो अपूर्व, यक्ष (पूजा करने वाला) प्रजाओं के भीतर है, वह मेरा मन शिवसंकल्प हो॥ २॥

जब ज्ञान के अग्नि से अविद्या का शरीर दग्ध कर दिया जाता है, तो फिर यही मन है, जिसके कार्य्यों में बड़ा उदार-भाव प्रतीत होने लगता है। द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, और ज्ञानयज्ञ इत्यादि विविध यज्ञ इसी के आश्रय जन्म लेते हैं, यही पुरुष को यज्ञरूप बना देता है, जिस में उसका सर्वस्व सर्वशक्तियें सकल इन्द्रिय और समस्त प्राण प्रजा के कल्याण साधन में न्योछावर हो जाते हैं। यही इस पुरुष को ऐसा उत्तम यज्ञ बनाता है, कि उसके जीवन से सर्वदा धर्म और भक्ति की सुगन्धि फैल कर आध्यात्मिक रोगों का निवारण करती हुई हृदयों में शान्ति की वृष्टि कर-

साती है। क्योंकि यह मन हमारे भीतर एक अपूर्व पूजा की सामग्री है। यही वस्तु है जिस को हम परमात्मा के समर्पण कर के उस की मंगल इच्छा में अभयदान लाभ करते हैं। प्राण को हृदय को परमात्मा के समर्पण करो, मन को प्रभु के चरणों में उपहार (भेंट) कर दो। जिस समय हमारा मन अपने सारे निर्भर, आलम्बन, विश्वास, श्रद्धा, भक्ति और प्रेम को प्रभु के चरणों में समर्पित कर देता है, उस समय के हर्ष को जिह्वा वर्णन नहीं कर सकती। उस समय का भाव हृदयमें समा नहीं सकता। सारा विश्व उसको घेरने के लिये पर्याप्त नहीं। यही आभ्यान्तरिक पूजा है, यही सच्ची पूजा है, जिस में श्रद्धा के जल से धौत मन भक्ति और प्रेम के पुष्पों के साथ अन्तर्य्यामी के चरणों में समर्पित किया जाता है ॥ किञ्च ॥

यत् प्रज्ञान मुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिर-न्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु ॥ ३ ॥

जो ज्ञान जनक, चेतन कराने वाला और धैर्य्य रूप है, जो प्रजाओं के भीतर वर्तमान अमृत ज्योति है, जिस के बिना कोई कर्म नहीं किया जाता, वह मेरा मन शिव–सङ्कल्प हो ॥३॥ यही मन सामान्य और विशेष रूप से वस्तु के ज्ञान का जनक है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान प्रथम सम्मुख वस्तु मात्र का दर्शन, बाल मूक आदि के ज्ञान के सदृश आलोचनमात्र होता है। फिर यही मन ठीक २ विशेष्य विशेषणभाव से उसकी विवेचना करता है। यही उस के उपयोगि और अनुपयोगि

होने का निश्चय करता है। यही अपना उस पर अधिकार जमाता है, वा उसका परित्याग करता है। और यही उसके संस्कारों को अपने भीतर स्थिर रखता है। यही स्वाप और मुग्ध अवस्था से चेतनता की ओर लाता है। यही भूले हुए को मार्ग दर्शाता है। यही बृहत् कार्य्यों के साधन के लिये हृदय में धैर्य्य स्थापन करता है, जिस से बड़े बड़े विघ्नों से रोके जा कर और बड़े बड़े क्लेशों को सहन करते हुए महा-पुरुष अपने उद्देश को पूर्ण करने में तनिक नहीं घबराते। फिर यही मन शरीर के अन्तर्वर्तमान ज्योति है। इसी से सुख और दुःख का अनुभव होता है। इसी की ज्योति से नेत्र-हीन पुरुष भी अपने मार्ग का पूरा ध्यान रखता है। और इसी से बाह्य जगत् का आत्मा के साथ सम्बन्ध है। बाह्य इन्द्रियं अपने २ विषय को मन के समर्पण कर देते हैं। और यह उन के ज्ञान को आत्मा के सामने रख देता है। और यही आत्मा की आज्ञा ले कर इन इन्द्रियों को किसी विषय के ग्रहण करने वा किसी कर्म के करने में प्रवृत्त करता है। इसी के द्वारा आत्मा का प्रभाव बाह्य पदार्थों पर पड़ता है। और इसी के द्वारा बाह्य पदार्थों का ज्ञान आत्मा तक पहुंचता है। यदि मन को बीच में से उड़ा दिया जाए, तो न बाह्य पदार्थों का कोई प्रभाव आत्मा पर पड़ सकता है, और न आत्मा का बाह्य जगत् पर कुछ प्रभाव हो सकता है। यही इन दोनों के सम्बन्ध का हेतु है। और यही है, जो सारी चेष्टाओं का मूल है। क्या लौकिक, क्या वैदिक, क्या पुण्य, क्या पाप, जो नाम कर्म, मन, वाणी वा देह के साथ सम्बन्ध रखता है, उन सब का मूल यही है। इसकी आज्ञा के बिना आंख का निमेष (झपकना) नहीं होता।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीत ममृतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिव-संकल्प मस्तु ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस अमृत से यह भूत भविष्यत् और वर्तमान, सब कुछ सब ओर से ग्रहण किया हुआ है जिस से सात होता वाला यज्ञ विस्तीर्ण किया जाता है, वह मेरा मन शिव-संकल्प हो ॥ ४ ॥

चक्षुरादि इन्द्रिय तो प्रत्यक्ष को ही ग्रहण कर सकते हैं, हां मन का सामर्थ्य है, कि भूत, भविष्यत् वर्तमान, विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) और व्यवहित, इन सब पदार्थों का ज्ञान करा देता है । मन की स्थिरता ने इन्द्रियों के अगोचर और सर्वथा छिपे हुए पदार्थ और शक्तियों के स्वरूप को मनुष्य के सामने खोल दियां है । जो अब मनुष्य के जीवन की रक्षा और उसके व्यवहार का आलम्बन बन रहे हैं । इसी की स्थिरता ने दूर विप्रकृष्ट ग्रह, उपग्रह और नक्षत्रों का पूर्ण विवेक मनुष्य के हृदयंगत कर दिया है । जो नक्षत्र इतनी दूर हैं, कि यदि हम तोपगोलक के वेग के साथ ऊपर चढ़ सकते, तौ भी सारा आयु उनके निकट पहुंचने के लिये अत्यल्प होता । पर मनकी स्थिरता में इतना बल है, कि उन्हीं नक्षत्रों की दूरी आकार परिमाण और भीतर के गुप्त पदार्थ, यह सारा भेद यहां बैठे २ ही खुल जाता है । हमारे पूर्वज उपदेश करते हैं, कि मन का योग मनुष्य की अद्भुत शक्तियें के आविर्भाव का साधन है । और इस बात का कब संदेह रहता है, जब हम इस बात को देखते हैं,

कि बाह्य योग (बाह्य पदार्थों में मन को एकाग्र करना) ने मनुष्य के सामने क्या क्या अद्भुत भेद खोल दिये हैं। इसी की स्थिरता दूसरोंके चित्तमें छिपी हुई बात को निकाल लाती है। फिर यही मन सात होताओं वाले अग्निष्टोम यज्ञ का प्रवर्तक है। और इसी से इतर वैदिक कर्मों में प्रवृत्ति होती है। यही भावि कल्याण के लिये शुभ कर्मों में प्रवृत्त कराता है। और इसी से शरीर रक्षा रूप यज्ञ का विस्तार किया जाता है। जिस यज्ञ के पांच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि ये सप्त ऋषि सप्त होता हैं।

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिंश्चित्तꣳसर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु ॥ ५ ॥

अर्थ—जैसे रथ (के चक्र) की नाभि में अरे प्रतिष्ठित होते हैं, इसी प्रकार जिस में ऋचा, साम और यजुः प्रतिष्ठित हैं। जिस में सब प्रजाओं का चित्त प्रोया हुआ है । वह मेरा मन शिव संकल्प हो ॥ ५ ॥

यही मन समस्त विद्याओं का निधान है। इसी में चारों वेदों के पद्य गद्य और गीत रूप त्रिविध मन्त्र निहित रहते हैं। इसी के स्वास्थ्य में वेदों का प्रतिभान होता है । इसी की अस्वस्थता में श्वेतकेतु ने अपने प्रियपिता को उत्तर दिया, हे भगवन् इस समय मुझे ऋचा, साम और यजुः नहीं प्रतिभात होते। (देखो छान्दोग्य उ० ३।६।७।१—६) यही वेदादि सकल विद्याओं का आधार है। इसी में प्रजाओं का ज्ञान प्रोया जाता है। यही सर्व संस्कारों को अपने भीतर स्थिर रखता है, जिस

से हमारी विद्या हमारे पास बनी रहती है। हमारे जीवन में और मृत्यु के अनन्तर शान्ति देने वाली श्रुति इसी में प्रतिष्ठित रहती है॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु॥ ६॥

अर्थ—जिस प्रकार सुशिक्षित सारथि अश्वों को (चलाता है) और रश्मियों (बागों) से घोड़ों को (रोके रखता है) इस प्रकार जो मनुष्यों को चलाता (और उनको रोकता है) जो हृदय में स्थित, न जीर्ण होने वाला और अत्यन्त वेगवाला है, वह मेरा मन शिव संकल्प हो॥ ६॥

यह शरीर रथ है और इन्द्रियों के घोड़े इस को खींचते हैं। और मन सारथि है; जिसके हाथ में इन घोड़ों की बाग है। इसलिये यह मन इस रथ को इन घोड़ों से जिधर चाहता है, ले जाता है। जब यह स्वयं सुशिक्षित होता है, तो सुशिक्षित सारथि के सदृश घोड़ों को ठीक मार्ग पर चलाता है, और उनको ठीक नियम में रखता है। तब आत्मा इस रथ में बैठकर जगत् की सैर करता हुआ मार्ग के पार परमपद को पहुंच जाता है।

फिर यही मन है जिसको बुढ़ापे में बुढ़ापा नहीं आता यह सदा यौवन भोग करता है और पूर्ण बल इसके भीतर वर्तमान रहता है॥

इन सारे हेतुओं से प्रतीत होता है कि मन में बड़ी अद्भुत शक्ति है। यह बाह्य जगत् को आत्मा के सामने प्रकाशित

करने और आत्मा को परमात्मा के साथ मिला देने का पूर्ण सामर्थ्य रखता है। बड़े २ दुःसाध्य कार्य्यों को सुसाध्य बना देना इसकी शक्ति में है। इसके बल की कोई उपमा नहीं। यह बड़े २ प्रबल पदार्थों को अनायास से अपने अधीन चला लेता है। यही भक्ति श्रद्धा, विश्वास और पवित्रता का आयतन है। केवल अविद्या और अविवेक से काम और क्रोध के बन्धन में पड़कर विषयों के स्वाद में फंस रहा है। यदि यह विवेकी जनों की शरण ले, महापुरुषों के दर्शन करे, सत्सगति से अन्धकार को दूर करे, भक्ति से हृदय को पूर्ण करके उज्ज्वल बनावे, विद्या और विवेक से सम्पन्न हो, तो पराकाष्टा को पहुंच सकता है। और सारे सूक्ष्मता के तारतम्य को चीर कर सूक्ष्मात् सूक्ष्मतम परम सूक्ष्म परमात्मा की शरण में जा सकता है।

सुषुप्ति और तुरीय अवस्था में विषयों का स्पर्श नहीं करता और न उनका प्रत्याख्यान (हटाना) करता है। और अत्यन्त आनन्द और निरपेक्षता से उस समय को व्यतीत करता है और लोक और परलोक सब से निरपेक्ष रहता है। यदि इसके पार्श्व में सर्प आन बैठे, अथवा कोई धन का कोप रख जावे, वह कोई अपेक्षा नहीं करता है। और वह अभिज्ञ भी नहीं होता है। यही सब से अधिक आनन्द है जो सर्वदा स्पृहणीय है॥

परन्तु सुषुप्ति और तुरीय अवस्था में यह भेद है, कि सुषुप्ति में श्रान्त इन्द्रियों को विश्राम मिलता है, और उस में तमोगुण प्रबल रहता है। इसलिये वह विश्राम और सुख जो उस अवस्था में होता है, थोड़ी देर में जाता रहता है। अर्थात् जब

मनुष्य जाग उठता है, तो इसी सुख और दुःख के वशीभूत होता है, जो जाग्रत् और स्वप्न का स्वभाव है। पर जब तुरीय अवस्था में पहुंचता है, तब तमोगुण के लिये कोई स्थान नहीं रहता। उस समय जाग्रत और स्वप्न में भी वही आनन्द पाता है, जो सुषुप्ति में प्राप्त होता है। और कभी उस आनन्द की सीमा से बाहिर नहीं होता। जाग्रत् के शोक और मोह उसकी जाग्रत में अपना स्वरूप नहीं दिखलाते। कारण यह है कि यह पदवी विद्या और कर्म के अनुष्ठान से मिलती है। इस पर प्रकृति का कोई अधिकार नहीं। यह आत्मा के अपने स्वाधीन है। अतएव मन इस में अत्यन्त आनन्द और अत्यन्त शान्ति को उपलब्ध करता है।

समुद्र अत्यन्त गहिरा और लम्बा और चौड़ा है, वह भी पानी से भर जाता है। यह मन यद्यपि छोटा है, तो भी कभी, और किसी प्रकार, पूर्ण नहीं होता, जब तक इस में विषयों की प्राप्ति और उसके रस की इच्छा बनी रहती है। जब इस से विषयों की कामना निकल जाती है, और विद्या और विवेक का प्रकाश इस में आ जाता है। तब अत्यन्त प्रमुदित होजाता है। और भर के परिपूर्ण होजाता है, कि चारों ओर छलक २ फैलने लगता है।

स्मरण रक्खो, कि मन दर्पण के सदृश है। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में निर्मल मुख और निर्मल चित्र दिखलाई देता है, और मलिन दर्पण में मलिन मुख और मलिन चित्र दृष्टि आता है। इसी प्रकार जब मन पर मैल जम जाता है, तो सारे पदार्थ मैले दृष्टि पड़ते हैं। जब इस मल को दूर कर दिया जाता है, तो सब शुद्ध दिखलाई देते हैं। साधु पुरुषोंको सारी

सृष्टि अभयदान देती है। चोरी करने वालों को चारों दिशाओं से पकड़ने वालों का डर रहता है। पाप करने वालों को उसके प्रकट होने का सर्वदा भय बना रहता है। फिर जैसे २ मनुष्य पापों से बचता है, अशुभ संकल्प निकलकर उनके स्थान में शिव संकल्प निवास करते जाते हैं। वैसे वैसे सब अच्छे दृष्टि आते हैं। चारों ओर से अभयदान की आशा लगती है।

मनको परे करना हमारे वश में नहीं। परन्तु शुक्ल और कृष्ण बनाना हमारे वश है। मन के लिये मृत्यु नहीं, यह अमृत है। और मरने के पश्चात् भी आत्मा के साथ रहता है। मन चित्र-गुप्त है, और इस में पुण्य और पाप, उपासना और विज्ञान के सारे चित्र गुप्त रहते हैं। मानों यह आत्मा के किये हुए कर्मों का एक पुस्तक है। जिसमें उसके सारे कर्तव्य का लेखा वर्तमान है। इसी लेखे का नाम संस्कार है। और यही हमारे कर्तव्य का चित्र है। इसी को यह चित्रगुप्त (मन) गुप्त रखता है। जिससे कि प्रत्येक मनुष्य इस लेखे को पढ़ नहीं सकता। और यह भी परमात्मा की एक कृपा है, क्योंकि यदि हमारे मन का चित्र लोगों के सामने खुल जावे, तो हम इतने घृणास्पद हैं, कि कोई हमें अपने पास बैठने नहीं दे, और हम किसी के निकट खड़े नहीं होसकें। पापी समझता है, कि मैं पाप करता हूं। पुण्यात्मा समझता है, कि मैं पुण्य करता हूं। पर स्मरण रक्खो, कि पाप केवल कर्म्म से ही नहीं होता। जब एकवार अपवित्र-भाव उसके हृदय में उत्पन्न हुआ और बड़ी वीरता से यदि उसको तत्काल ही रोक भी लिया। तो भी उसके संकल्प का चित्र चित्रगुप्त के चित्रों में प्रविष्ट हो गया। और अब किसी प्रकार मिट नहीं सकता। ये संस्कार

मरने के पश्चात् दूसरे जन्म में भी साथ जाते हैं । इस लिए यहां ही मन को शुद्ध करना चाहिये। जिस प्रकार वस्त्र के शुद्ध करने के लिए क्षार, साबुन, और जल साधन हैं। इसी प्रकार मन को शुद्ध करने के लिए यज्ञादि कर्म, शम, दम, तितिक्षा, और परमात्मा की भक्ति साधन हैं, जिन के द्वारा हम मन को शुद्ध कर सकते हैं। यदि हम इस मैल को स्वयं नहीं शुद्ध करते, तो परमात्मा हम को पशु और स्थावरों की योनियों में डाल कर शुद्ध करते हैं।

योग का प्रयोजन है, मन को रोकना। सारे शास्त्रकारों का उपदेश है मन को बहिर्मुख करने के स्थान में अन्तर्मुख किया जावे। पर यह सब कुछ संस्कारों के शुद्ध होने से होगा। और उस की शुद्धि वर्ण और आश्रमों के धर्म के अनुष्ठान से होगी। मनुष्य जितना यज्ञ, और भक्ति में बढ़ता है, उतना ही उसके जीवन में बल बढ़ता है । जिस का मन बढ़ जाता है उस में कर्म करने की शक्ति आ जाती है । बल आ जाता है जीवन मिलता है और परमात्मा के दर्शन होते हैं।

जो चाहे कि मुक्ति के आनन्द को उपलब्ध करे, स्वर्ग के प्रमोद को अनुभव करे,और नरक की यातनाओं से बचे,स्थावर और जङ्गम पर शासन करे, और त्रिलोकी को जीते, शत्रुओं को दूर करे और मित्रों की सहायता करे, देवता की पदवी पावे, और सृष्टि के स्रष्टा से योग करे और उस को सखा बनावे,तो कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को वश में करे, और मन को विषयों की ओर जाने से रोके । फिर अभीष्ट सिद्धि है और कोई उस में रोक नहीं।

श्रुति के आलम्बन से हम ने मन की अद्भुत शक्तियों पर विचार किया है। और आध्यात्मिक संबन्ध की विवेचना की है। हम ने उस की शुद्धि और अशुद्धि पर ध्यान दिया है। आओ हम परमात्मा की शरण लें, उन से प्रार्थना करें और वार वार वरदान मांगें " तन्मे मनः शिव-संकल्प मस्तु " हे अन्तर्य्यामिन्! मनके मन ! मन के जानने हारे ! प्रभो ! वह मेरा मन शिव संकल्प हो। मेरे मन में सदा धर्म का संकल्प हो, कभी उस में पाप का संकल्प न उठे " भद्रं नो अपिवातय मनः "। (ऋग्वेद १०। २०। १)। भद्र मन हम को प्राप्त कराइये, जो तुम्हारी भक्ति में दृढ़ हो तुम्हारे विश्वास में स्थिर हो। तुम से कभी वियुक्त न हो। तुम्हारी ज्योति से दीप्त हो। यही हमारी इच्छा है। यही हमारी आशा है। यही आशा पूर्ण करो।

ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ओ३म्

उपदेश ॥ ४ ॥

॥ वाक् शुद्धि ॥

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत । अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधिवाचि ॥

ऋ० १० । ७१ । २ ॥

अर्थ—चालनी से सक्तु की नाईं शोधते हुए जहां धीर पुरुष मन से वाणी को बनाते हैं, वहां मित्र मैत्री को अनुभव करते हैं, (क्योंकि) इन की वाणी में कल्याण वाली लक्ष्मी निहित (रक्खी हुई) है । २ । वाणी मनुष्य के सब व्यवहारों का मूल है । इसी की सहायता से लौकिक कर्मों में प्रवृत्ति होती है, और इसी की सहायता से वैदिक कर्मों का अनुष्ठान होता है । विहित और निषिद्ध कर्मों का ज्ञान इस की छाया में है । मैत्री और शत्रुता का कार्य्य इस के हाथ में है । मनुष्य के हृदय के भाव को प्रकट करने वाली यह है, और हमारे पूर्वजों के ज्ञान को हमारे पास लाने वाली यह है ।

यही देवी सरस्वती है, जो स्वाध्याययज्ञ से मानुष जीवन को पवित्र बनाती है । यही विद्या की देवी है, जो विद्याधन में धनवती है । मधुर और सत्य वचनों के प्रेरने वाली और सुबुद्धि के देने वाली यही है । यही यज्ञ का आधार है । इसी की किरण अथाह शब्दसागर और संसार सागर को प्रका-

शित करती है । और इसी की किरण सारी बुद्धियों को चमकाती है ॥

पावकानः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ १० ॥
चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ११ ॥
महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयाति केतुना ।
धियो विश्वा विराजति ॥ १२ ॥

ऋग्वेद । १ । ३ ॥

अर्थ—पवित्र करने वाली, बलों से बलवती, विद्यारूप धनवती, सरस्वती हमारे यज्ञ की कामना करे ॥१०॥

प्रिय सत्य वचनों के प्रेरने वाली और सुमतियों के चेतन करने वाली सरस्वती यज्ञ को धारण करती है ॥११॥

सरस्वती (अपनी) किरण के द्वारा महान् समुद्र (संसार सागर) को प्रकाशित करती है, और सब बुद्धियों को चमकाती है ॥ १२ ॥

इस में कोई संशय नहीं, कि वाणी निर्बल को बलवान् बना देती है, भीरु को शूरबीर बना देती है, असहाय को सुसहाय बना देती है, पाप के मार्ग से हटा कर धर्म के मार्ग पर लाती है ॥

जीवन को पलटा देकर संसार को मित्र बना देती है। और मैत्री के आनन्द को अनुभव कराती है । हां नियम यह

है, कि जिस प्रकार चालनी के द्वारा तुषों से सक्तुओं को अलग कर शुद्ध सक्तुओं को उपयोग में लाते हैं। इसी प्रकार मन के द्वारा अनृत से ऋत को, असत्य से सत्य को, अप्रिय से प्रिय वचन को, अहित से हित वचन को, अभद्र से भद्र वचन को, मधुर से कटु भाषण को, द्रोह से अद्रोह वाक् को, और असंबद्ध-प्रलाप से मित भाषिता को, अलग करके शोधित वाणी का प्रयोग करें।

यस्य वाङ्मनसे शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्व मवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥

मनु० २। १६०॥

अर्थ—जिस के मन और वाणी सर्वदा शुद्ध हैं और ठीक २ रक्षा किये हुए हैं, वह वेदान्तोक्त (उपनिषत् में कथित) सारे फल को प्राप्त होता है।

वाणी का प्रथम धर्म सत्य बोलना है। इस शुद्ध और सार्व जनीन (सब मनुष्यों के भला करने वाले) धर्म को प्रथम भगवान् वेद ने जन्म दिया है। और फिर इस आर्ष धर्म को सारे शास्त्रकारों ने बड़े आदर के साथ स्वीकार किया है, और बड़े सौन्दर्य्य के साथ वर्णन किया है।

ऋत (सरलता) और सत्य।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धा मनृतेऽदधा च्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥

यजु० १९। ७७॥

अर्थ—प्रजापति ने सत्य और अनृत (झूठ) इन दोनों रूपों को देख कर अलग २ कर दिया, उन में से अनृत में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा को स्थापन किया।

फिर ऋत और सत्य का वर्णन ऋग्वेद १। ८७। ४; १। १४२। १; १। १७५। १; ५। २३। २ में है। और अद्रोह वाक् का वर्णन ऋग्वेद ६। ५। ६; ६। २२। २; ३। १४। ८; ३। ३२। ६ में है। और १। २३। २२। में द्रोह और अनृत वचन को पाप बतलाया है। और अथर्व वेद ४। १६ में धोखा देने को पाप बतलाया है।

सत्य का स्वरूप यह है, कि जो मन में हो उसी को जिह्वा पर लाना। जब मन में कुछ और हो, और जिह्वा से कुछ और प्रकट किया जावे, तो वह असत्य कहलाता है। जिस से मन पर कुसंस्कार जमते हैं, आत्मा में भय शङ्का और लज्जा उत्पन्न होती है और अन्तर्यामी प्रभु उस को कदाचित् पसन्द नहीं करते॥

मनसा इषिता वाग्वदति यां ह्यन्यमना वाचं वदत्यसूर्य्या वै सा वागदेवजुष्टा॥

ऐतरेय ब्रा० २। ५। ४।

अर्थ—मन से प्रेरी हुई वाणी बोलती है। किसी और में मन रख कर (अर्थात् मन में कुछ और रख कर) जिस वाणी को बोलता है, वह वाणी असूर्य्या (न चमकने वाली अन्धकार में ले जाने वाली) है और अदेव-जुष्टा (आत्मा और परमात्मा से न पसन्द की हुई) है।

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् कार्य्यें चान्यद्दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥

मन में और, वाणी में और, और कार्य्य में और यह दुर्जनों के होता है। मन में एक, वचन में एक और कर्म में एक, यह महा-पुरुषों के होता है। अर्थात् महापुरुष सदा उसी बात को वाणी पर लाते हैं, जो हृदय में वर्तमान होती है। इस के विपरीत बोलना दुर्जनों का काम है। क्योंकि सत्य ही वाणीरूप वृक्ष का पुष्प और फल है, जो प्रकाशित करने के योग्य है ॥

तदेतत् पुष्पं फलं वाचो यत् सत्यं, सहेश्वरो यशस्वी कल्याणकीर्तिर्भवितोः, पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं वदाति। (९) अथैतन्मूलं वाचो यदनृतं, तद्यथा वृक्ष आविर्मूलः शुष्यति सउद्वर्तते; एवमेवानृतं वदन्नाविर्मूलमात्मानं करोति स शुष्यति स उद्वर्तते, तस्मादनृतं नवदेद्दयेत्त्वेनेन (१०

ऐत० आ० २ आ० ३ अ० ६ ॥

अर्थ—सो यह वाणीरूप वृक्ष का पुष्प और फल है जो सत्य है, वह (पुरुष) यश वाला और पवित्र कीर्ति वाला होने को समर्थ है, जो वाणी के पुष्प और फलरूप सत्य को बोलता है (९) और यह वाणी का मूल (जड़) है, जो अनृत है। सो जैसे वह वृक्ष जिस की जड़ नंगी हो गई है, वह सूख जाता है और उखड़ जाता है, इसी प्रकार झूठ बोलता हुआ

अपनी जड़ को नंगा कर देता है तब वह सूख जाता है और उखड़ जाता है, इस लिए झूठ न बोले इस से अपने आप को बचाए (१०) ॥

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥४॥

स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं, तस्मात्ते यशो यशोह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥५॥

शतपथ । १ । १ । १ ॥

दो ही यह (भेद) हैं तीसरा नहीं (एक) सत्य और दूसरा अनृत । सत्य ही देवता हैं और अनृत मनुष्य हैं "यह मैं अनृत से (झूठ का परित्याग करके) सत्य को प्राप्त होता हूं" यजु० १ । ५ इस (प्रतिज्ञा) से वह मनुष्यों से देवों को प्राप्त होता है (मनुष्यत्व से बढ़ कर देव भाव को प्राप्त होता है) । ४ । वह सत्य ही बोले, देवता इसी व्रत का आचरण करते हैं जो यह सत्य है, इसी लिए वे (देवता हैं) जो इस प्रकार जानता हुआ सत्य बोलता है, वह यशस्वियों का यशस्वी बनता है ॥ ५ ॥

स यः सत्यं वदति यथाग्निं समिद्धं तं घृतेनाभिषिञ्चेदेवꣳहैनंꣳसउद्दीपयति तस्य भूयो-भूय

एवं तेजो भवति श्वः-श्वः श्रेयान् भवत्यथ योऽनृतं वदति, यथाग्निꣳ समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेदेवꣳहैनꣳसजासयति तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति श्वः-श्वः पापीयान् भवति तस्मादु सत्यमेव वदेत् । शतपथ २।२।२।१९॥

अर्थ—जो सत्य बोलता है, जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि को घृत से सेचन करे इस प्रकार वह उस को चमकाता है, उस का अधिक ही अधिक तेज बढ़ता है, दिन २ कल्याण वाला बनता है। और जो झूठ बोलता है, जैसे प्रदीप्त अग्नि को जल से सेचन करे, इस प्रकार वह इसको क्षीण करता है, उस का छोटा २ ही तेज होता है, और वह दिन २ अधिक अधिक पापी होता है, इस लिए सत्य ही बोले (झूठ कभी न बोले) १९॥

अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति ।

शतपथ १।१।१; ३।१।२।१०॥

अमेध्य (अपवित्र) है पुरुष, जो झूठ बोलता है॥

यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद्गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गन्धो वाति यथाऽसिधारां कर्तेऽवहिताम वक्रामेद्यद्युवेहुवे हवा विह्व दिष्या-

मि कर्तं पतिष्यामीत्येव मनृतादात्मानं जुगुप्सेत्

तैत्तिरीयारण्यक ॥ १० । ६ ॥

अर्थ—जैसे उत्तम फूले हुए वृक्ष का गन्ध दूर से वहता है (वायु के साथ आता है) इसी प्रकार पुण्य-कर्म का गन्ध दूर से वहता है । और जैसे गढ़े पर रक्खी हुई खड्ग की धारा पर से पार उतरना चाहे, यदि वह दृढ़ पाओं रखे, तो पादच्छेद से व्याकुल हो, और दृढ़ पाओं न रखे, तो गढ़े में गिरे। इस प्रकार झूठ से अपने आप को बचावे (अर्थात् झूठ का प्रकट होना लोक में निन्दा और अविश्वास का हेतु है । और अप्रकट रहने में भी नरक रूप गढ़े में गिरना अवश्यंभावि फल है) ॥

योऽन्यथा सन्त मात्मान मन्यथा सत्सु भाषते ।
सपापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ।२५५।
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः । २५६

मनु अ० ४ ।

अर्थ—जो और होते हुए अपने आप को सत्पुरुषों में अन्य प्रकार से बतलाता है, वह आत्मा के चुराने वाला जगत् में अत्यन्त पापी चोर है (क्योंकि और चोर तो धन प्रभृति की चोरी करते हैं और यह अपने आत्मा को चुराता है) २५५ सब अर्थ वाणी में नियत हैं, वाणी उन का मूल है, वाणी से ही निकले हैं । जिस मनुष्य ने उस वाणी को चुरा लिया मानों उस ने सारी चोरियां करलीं ॥ २५६ ॥

नहि सत्यात परो धर्म्मः नानृतात् पातकं परम् ।

अर्थ—सत्य से बढ़ कर धर्म नहीं और झूठ से बढ़ कर पाप नहीं । मनु महाराज ने साक्षी का उद्देश करके सत्य का महत्व इस प्रकार वर्णन किया है ।

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥
साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर्बध्यते वारुणै भृशम् ।
विवशः शत माजातीस्तस्मात् साक्ष्यं वदेदृतम् ॥
सत्येन पूयते साक्षी धर्म्मः सत्येन वर्द्धते ।
तस्मात् सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गति रात्मा तथात्मनः ।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिण मुत्तमम् ॥
मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित् पश्यतीति नः ।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥

मनु० ८ । ८१-८५ ॥

अर्थ—साक्ष्य में साक्षी सत्य बोलता हुआ पुष्कल (उत्तम) लोकों को प्राप्त होता है, और इस लोक में अत्युत्तम यश को प्राप्त होता है क्योंकि यह (सत्यरूप) वाणी वेद से प्रशंसा की गई है ॥ ८१ ॥ साक्ष्य में झूठ बोलता हुआ सौ जन्म तक

विवश वरुण के पाशों से दृढ़ बांधा जाता है, इस लिए सच्ची गवाही कहे ॥ ८२ ॥ सत्य से साक्षी पवित्र होता है, धर्म सत्य से बढ़ता है, इस लिए सब वर्णों के विषय में साक्षी को सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ८३ ॥ आत्मा ही आत्मा का साक्षी है और आत्मा ही आत्मा की गति (शरण) है (इस लिए) मनुष्यों के उत्तम साक्षी अपने आत्मा का अपमान मत कर। (झूठा हो कर भी मनुष्य दूसरों की दृष्टि में सच्चा बन सकता है पर सच्चा वही है, जो अपने आत्मा से सच्चा है। वही अपने आप का आदर करता है। और वही अपने आप का शुभचिन्तक है। झूठ बोलने वाला आप अपना अपमान करता है। और अपने आत्मा का शत्रु बनता है) ॥ ८४ ॥ पाप करने वाले समझते हैं कि हमें कोई नहीं देखता, परन्तु उन को देवता देखते हैं, और अपना अन्तर्य्यामी देखता है ॥ ८५ ॥

आगे फिर इसी प्रकरण में उपदेश किया है :—

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः।
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥
जन्म प्रभृति यत् किञ्चित् पुण्यं भद्र त्वया कृतम्।
तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥
एकोहमस्मीत्यात्मानं यत् त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पापपुण्येक्षिता मुनिः।

मनु० । ८ । ८९-९१ ॥

अर्थ—ब्रह्म हत्या करने वाले, स्त्री और बाल की हत्या

करने वाले मित्रद्रोही और कृतघ्न के जो लोक हैं, वे झूठ बोलने वाले के होते हैं। (अर्थात् झूठ बोलना इन पापों के बराबर है) ॥ ८६ ॥ हे कल्याण ! जन्म से लेकर जो कुछ तूने पुण्य किया है, वह तेरा सारा कुत्तों को प्राप्त हो (निष्फल जावे) यदि तू झूठ बोले ॥९०॥ हे कल्याण ! मैं अकेला हूं इस प्रकार जो तू अपने आप को समझता है (यह मत समझ) क्योंकि पाप पुण्य का द्रष्टा मुनि (परमात्मा, जो इस समय चुप है) तेरे हृदय में सदा स्थित है ॥ ९१ ॥

इतिहास भी इस बात को प्रकट करते हैं, कि हमारे पूर्वज वेदप्रतिपादित इस धर्म को सर्वथा शिरो-धार्य्य समझते थे। उन का सारा जीवन सत्य से परिपूर्ण और असत्य से सर्वथा अलग था। उपनिषद् में लिखा है, कि सुकेश, सत्य काम, सौर्य्यायणि, कौशल्य, वैदर्भि और कबन्धी ये छः ऋषि परब्रह्म के जानने की इच्छा से पिप्पलाद ऋषि की शरण आए। यद्यपि वे ब्रह्मचारी रह कर तपश्चर्य्या और श्रद्धा के साथ वेदाध्ययन कर चुके थे, तथापि ऋषि ने उन को कहा, कि अब फिर तप ब्रह्मचर्य्य और श्रद्धा के साथ यहां वर्ष भर निवास करो, इस के पश्चात् यथेच्छ प्रश्नों को पूछो, यदि हम जानते होंगे, तो सब कुछ तुम्हें बतलायेंगे। उन्हों ने इस आज्ञा को पाकर वर्ष भर ऋषि के पास निवास किया। और इस के पीछे बारी २ से अपने प्रश्न पूछे। उन में से सुकेश के प्रश्न को उपनिषद् में इस प्रकार वर्णन किया है :—

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन् ! हिरण्यनाभः कौसल्यो राज-पुत्रो मामु-

पेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत् । षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ । तमहं कुमारमब्रुवम्, नाहमिमं वेद, यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति । समूलो वा एष परिशुष्यति यो ऽनृतमभिवदति, तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं । स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज । तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ।

प्रश्न० ६ । १ ॥

अर्थ—इस के पीछे भारद्वाज (भारद्वाज गोत्र वाले) सुकेश ने इस (पिप्पलाद ऋषि) से पूछा, हे भगवन् ! हिरण्यनाभ नामी कोसल देश के राजकुमार ने मेरे पास आकर यह प्रश्न पूछा । "हे भारद्वाज ! (सुकेश !) तू सोलह कला वाले पुरुष को जानता है" । मैंने उस कुमार को कहा, कि मैं उसको नहीं जानता । यदि मैं इसको जानता, तो क्यों न तुझे बतलाता । सचमुच वह पुरुष मूल सहित सूख जाता है, जो झूठ बोलता है । इस लिए मैं झूठ नहीं बोल सकता । तब वह चुपचाप रथ पर चढ़कर चला गया । सो आप से पूछता हूं, कहां है वह (सोलह कला वाला) पुरुष ॥ १ ॥ इसी प्रकार कठोपनिषद् में नचिकेता का इतिहास और छान्दोग्य में सत्यकाम जाबाल का इतिहास देखने से प्रतीत होता है, कि आर्य्यावर्त में सत्य-धर्म का पालन कैसा उच्च-धर्म समझा जाता था ।

रामायण का इतिहास कौन आर्य्य-सन्तान नहीं जानता ? जब राक्षसों ने बार २ विश्वामित्र के यज्ञ में विघ्न डाला, तो

वह राक्षसों के निग्रह के अर्थ श्रीरामचन्द्र जी को लाने के लिए दशरथ के पास पहुंचा। महाराज दशरथ जी ने उस का बड़ा सन्मान किया, और प्रसन्न हो कर विश्वामित्र को ये वचन कहे :—

शुभक्षेत्र-गतश्चाहं तव संदर्शनात् प्रभो। ब्रूहि यत् प्रार्थितं तुभ्यं कार्य्यमागमनं प्रति ॥ ५६ ॥
इच्छाम्यनुगृहीतो ऽहं त्वदर्थपरिवृद्धये। कार्य्यस्य न विमर्शं च गन्तुमर्हसि सुव्रत ॥ ५७ ॥
कर्त्ता चाहमशेषेण दैवतं हि भवान् मम ॥५८॥

वाल्मीकि रामायण ॥ बालकांड। सर्ग ॥ १८ ॥

हे प्रभो! आप के शुभ दर्शन से मैं शुभ क्षेत्र (शरीर) को प्राप्त हुआ हूं। कहिये जो आप के यहां पधारने से अभीष्ट है ॥ ५६ ॥ मैं (आप की आज्ञा से) अनुगृहीत हुआ आप की कार्य्य सिद्धि करना चाहता हूं, हे उत्तम व्रतों वाले (विश्वामित्र!) आप को (अपने) कार्य्य का कोई सोच करना नहीं चाहिये (अर्थात् निःशङ्क हो कर अपना कार्य्य कहो) ॥ ५७ ॥ मैं उस को पूर्णता से करूंगा, आप मेरे निश्चित देवता हैं ॥ ५८ ॥

इन उदार, मीठे और नम्र वचनों को सुन कर विश्वामित्र का हृदय प्रसन्न हो गया, और उसने महाराज को कहा। हे राज शारदूल! ये वचन आप के ही योग्य हैं, क्योंकि आप का जन्म उच्च वंश का है, और आप महर्षि विशिष्ट की आज्ञा में चलने वाले हैं।

जो मेरे हृदय में वाक्य है, अब उस को सुनिये। मारीच और सुबाहु ये दोनों महा-पराक्रमी और युद्ध में सुशिक्षित राक्षस मेरे यज्ञ में विघ्न डालते हैं। उन के दमन के लिए बिना सेना के अपने बड़े पुत्र को मेरे साथ कर।

दशरथ को क्या विदित था, कि ऋषि उस के प्रिय पुत्र को अकेला राक्षसों के युद्ध में ले जाना चाहता है। इन वचनों को सुन कर कांप उठा और घबरा कर कहा। राम अभी छोटा है। मैं नहीं देखता, कि राक्षसों के साथ युद्ध करने की अभी इस में योग्यता हो। मैं अपनी सेना को साथ लेजाकर उन राक्षसों के साथ युद्ध करता हूं। अथवा मैं ही अकेला धनुष हाथ में लेकर उन राक्षसों के साथ युद्ध करता हूं। आपका यज्ञ निर्विघ्न समाप्त होगा। मैं वहां चलता हूं, राम को न ले जाइये। यह बालक है, और अभी अस्त्रविद्या में पूरा निपुण नहीं, न शत्रु के बल और निर्बलता को समझता है। न अस्त्र बल से सम्पन्न है। न युद्ध में विशारद है। यह राक्षसों के योग्य नहीं, क्योंकि वे धोखे से युद्ध करते हैं। मैं राम से वियुक्त हो कर एक क्षण भी नहीं जी सकता। यदि आप राम को ही ले जाना चाहते हैं, तो इस को सेना के और मेरे साथ ले चलिये। ये पुत्र मुझे वृद्धावस्था में बड़े क्लेश से मिले हैं। इन चारों में से बड़े, धर्म-प्रधान राम में मेरा परम स्नेह है। कृपा कीजिये, और उस को अकेला न ले जाइये॥

दशरथ के इन मोह से भरे हुए वचनों को सुन कर विश्वामित्र ने प्रत्युत्तर दिया।

पूर्वमर्थं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमर्हसि ।
राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्यास्य विपर्य्ययः ॥२
यदीदन्ते क्षमं राजन् गमिष्यामि यथागतम् ।
मिथ्याप्रतिज्ञः काकुत्स्थ सुखी भव सुहृद्वृतः ॥३

वाल्मीकीरा० बाल० सर्ग ॥ २१ ॥

अर्थ—पहले कार्य्य की प्रतिज्ञा करके फिर उस प्रतिज्ञा को छोड़ना चाहता है । यह रघुवंशियों के योग्य नहीं । यह काम इस कुल के विपरीत (उलट) है ॥ २ ॥ हे राजन् ! यदि तुझे यही योग्य है, तो मैं जैसे आया था, वैसे चला जाता हूं । हे ककुत्स्थ के सन्तान ! तू मिथ्या प्रतिज्ञा वाला हो कर सुहृदों में (राम आदि सुहृदों में जिन के मोह से प्रतिज्ञा को भङ्ग करता है) घिरा हुआ सुखी हो ॥ ३ ॥

जब विश्वामित्र यह कह चुका । तो फिर पुरोहित विशिष्ट ने राजा को कहा ।

इक्ष्वाकूणां कुले जातः साक्षाद् धर्म इवापरः ।
धृतिमान् सुव्रतः श्रीमान् न धर्मं हातु मर्हसि ।६
त्रिषु लोकेषु विख्यातो धर्मात्मा इति राघवः ।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व नाधर्मं वोढुमर्हसि ॥७॥
प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्तं वाक्यमकुर्व्वतः ।

इष्टापूर्तवधो भूयात् तस्माद् रामं विसर्जय ॥८॥
बा० रा० बा० सर्ग २१ ॥

अर्थ—तुम इक्ष्वाकु के कुल में उत्पन्न हुए हो मानो साक्षाद् दूसरा धर्मरूप हो, धैर्य्य वाले, उत्तम व्रतों वाले और श्रीमान् हो कर आप को धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ६ ॥ रघु का सन्तान धर्मात्मा है, इस प्रकार तू तीनों लोकों में विख्यात है, अपने धर्म को स्वीकार कर । तुझे अधर्म नहीं उठाना चाहिये ॥ ७ ॥ करूंगा यह प्रतिज्ञा करके कही हुई बात को न करने वाले पुरुष के इष्ट (यज्ञ आदि वैदिक कर्म) और पूर्त (तालाब लगवाना आदि स्मार्त कर्म) सब नष्ट हो जाते हैं इस लिए राम को (मुनि के साथ) भेज ॥ ८ ॥

यहां यद्यपि महाराज ने यही प्रार्थना की थी, हे भगवन्! मुझ पर कृपा कीजिये और अकेले राम को न ले जाइये । जिस कार्य्य के लिए आप आये हैं, उस को मैं स्वयं करने के लिए प्रस्तुत हूं । क्योंकि दशरथ के विचार में छल से युद्ध करने वाले राक्षसों के साथ लड़ने के लिए अकेले राम को भेजना बड़ा भयानक था । और इसी लिए उस ने यह प्रार्थना की । तौ भी किस प्रकार उस को विशिष्ट और विश्वामित्र से अपने पहले वचनों की ओर दृष्टि दिलाई गई है । और किस प्रकार इस अवसर पर उस के पूर्वजों के नाम लिए गये हैं । कि वह पूर्वजों के चरित्र को ध्यान में लावे, और अपने पहले वचनों को ठीक उसी प्रकार पालन करने में पुत्रस्नेह को परे रख कर अपने धर्म की पूर्ण रक्षा करे । और हम देखते हैं, कि दशरथ ने उसका स्वीकार किया, और राम को विदा कर दिया ॥

जब श्रीरामचन्द्रजी पिता की आज्ञा को शिर पर धारण करके बन में चले गये। और महाराज भरत उन को लौटाने के लिए पुर के लोगों मन्त्रियो और माताओं के साथ चित्रकूट पर्वत पर उन की सेवा में पहुंचे। और अयोध्या में लौट कर राज्य करने के लिए अनेक यत्न किये। परन्तु उन्हों ने भरत की इस प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया, और भरत को अनुरोध किया, कि तुम जाकर प्रजा का पालन करो, और मैं चौदह वर्ष बनों की शोभा को देखता हूं। क्योंकि इसी प्रकार हम अपने पिता, स्वर्गवासी पिता को सत्यवादी बना सकते हैं, और इसी प्रकार उन को ऋण से विमुक्त कर सकते हैं, यही पुत्र का धर्म है, इसी के पालन से हम पुत्र कहला सकते हैं। और इसी के पालन से हम स्वयं सत्य-वादी रह सकते हैं॥

इस पर जाबालि ने कहा। हे राम! यह तेरा विचार व्यर्थ है। कौन किस का बन्धु और कौन किस का अपना है? माता पिता आदि सारे सम्बन्ध यात्रियों के सदृश हैं। इन में आसक्त नहीं होना चाहिये। पैत्रिक राज्य को छोड़ कर किस लिए बहुत कांटों वाले दुःखदायी इस विषम मार्ग में पाओं रखता है परलोक को किस ने देखा है। इस बुद्धि को छोड़ और प्रत्यक्ष फल वाले राज्य को भोग।

इन नास्तिकपन के वचनों को सुन कर श्री रामचन्द्र ने उस को शासन करते हुए सत्य का माहात्म्य बतलाया॥

भवान् मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान्।
अकार्य्यं कार्य्यसङ्काशमपथ्यं पथ्यसंनिभम्॥२

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचार–समन्वितः ।
मानं न लभते सत्सु भिन्न-चारित्रदर्शनः ॥३॥
कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुष-मानिनम् ।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदिवाऽशुचिम् ४
अनार्य्यस्त्वार्य्यसंस्थानः शौचाद्धीनस्तथाशुचिः
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव ॥५॥
अधर्मं धर्म-वेषेण यदीमं लोक-सङ्करम् ।
अभिपत्स्ये शुभं हित्वा क्रियां विधिविवर्जिताम् ६
कश्चेतयानः पुरुषः कार्य्याकार्य्य-विचक्षणः ।
बहु मन्येत मां लोके दुर्वृत्तं लोक-दूषणम् ॥७॥
कस्य यास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम् ।
अनया वर्तमानेऽहं वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया ॥८॥
काम-वृत्तो न्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते ।
यद्वृत्ताःसन्ति राजानस्तद्वृत्ताःसन्ति हि प्रजाः
सत्य मेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम् ।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकःप्रतिष्ठितः १०

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे ।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्११
उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः ।
धर्मः सत्य-परो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते ॥१२॥
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्म्मः सदाश्रितः ।
सत्य-मूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥१३
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च ।
वेदाः सत्य-प्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत् ॥
एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् ।
मज्जत्येको हि निरये एकः स्वर्गे महीयते ॥१५॥

सोऽहं पितुर्निदेशं तु किमर्थं नानुपालये।
सत्य-प्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतम् ॥१६॥
नैव लोभान्न मोहाद्वा न चाज्ञानात्तमोन्वितः ।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्य-प्रतिश्रवः । १७
असत्य-सन्धस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः ।
नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ।१८

प्रत्यगात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं ध्रुवम् ।
भारः सत्पुरुषैश्चीर्णस्तदर्थमभिनन्द्यते ॥१९॥
भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि ।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत्ततः ॥ २० ॥
श्रेष्ठं ह्यनार्य्यमेव स्याद्यद्भवानवधार्य्य माम् ।
आह युक्ति करैर्वाक्यै रिदं भद्रं कुरुष्वह ॥२१॥
कथं ह्यहं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरोः ।
भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः ॥२२
स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुसन्निधौ ॥२३॥

अर्थ—आप ने जो मेरे हित की कामना से यह वचन कहा है । यह तो कार्य्य के सदृश प्रतीत होने वाला कुकर्म और पथ्य के सदृश प्रतीत होने वाला कुपथ्य है ॥ २ ॥ वह पुरुष जिस ने मर्य्यादा तोड़ दी है, और पापाचरण से युक्त है, वह सत्पुरुषों में मान नहीं पाता जिस का चारित्र नष्ट हो गया है ॥३॥ कुलीन हो वा अकुलीन, वीर हो वा पुरुष-मानी, शुचि हो वा अशुचि, पुरुष के इन सारे गुण और दोषों को उस का चरित्र बतला देता है ॥ ४ ॥ क्या मैं अनार्य्य हो कर आर्य्यों की सी आकृति वाला, शौच से हीन हो कर शुचि पुरुष के सदृश, दुष्ट लक्षणों वाला हो कर शुभ लक्षणों वाले के सदृश, दुःशील हो कर शीलवान् के तुल्य (अपने आप को

दिखलाऊं) ॥ ५ ॥ यदि मैं शुभ को त्याग कर इस लोक के मल अधर्म को धर्म के वेष से स्वीकार करूं, जो कर्म विधि से विवर्जित है (अर्थात् वेदों में निषिद्ध है) ॥६॥ तो कौन कार्य्य अकार्य्य में विचक्षण (निपुण) चेतना वाला पुरुष लोक के बिगाड़ने वाले मुझ दुर्वृत्त को लोक में अच्छा समझेगा ॥ ७ ॥ इस हीन प्रतिज्ञा वाले वर्ताव से वर्तता हुआ मैं किस की चाल पर चलूं और किस से स्वर्ग को प्राप्त होऊं ॥ ८ ॥ यह सारा लोक स्वेच्छाचारी बन जावेगा । क्योंकि जो वृत्त (आचारण) राजाओं के होते हैं, वे ही वृत्त प्रजा के हुआ करते हैं ॥९॥ सत्य और अक्रूरता यही सनातन राज-वृत्त (राजा का आचरण) है । इस लिए सत्य स्वरूप ही राज्य है (अर्थात् सत्य से गिरा हुआ राज्य राज्य नहीं) सत्य में ही लोक प्रतिष्ठित है ॥ १० ॥ ऋषि और देवताओं ने सत्य का ही मान किया है । सत्यवादी ही लोक में एक रस रहने वाले परमात्मा को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ लोग, झूठ बोलने वाले से सर्प के सदृश डरते हैं । सत्यपरायण धर्म, लोक में सब का मूल कहा जाता है ॥ १२॥ सत्य ही लोक में प्रभु (समर्थ) है । सत्य में ही सदा धर्म आश्रित है सब व्यवहार सत्यमूलक हैं । सत्य से परे कोई पदवी नहीं ॥ १३ ॥ दान दिया हुआ यजन किया, हवन किया और तप तपे हुए (सत्य से बढ़ कर नहीं हैं) । सचाई के कारण वेदों की प्रतिष्ठा है। इसलिए चाहिये कि मनुष्य सत्य-परायण रहे ॥ १४ ॥ एक पुरुष लोक का पालन करता है, एक कुल का पालन करता है कोई नरक में डूबता है, कोई स्वर्ग में पूजा जाता है ॥ १५ ॥ सो मैं सच्ची प्रतिज्ञा वाला हो कर

पिता के आदेश का क्यों कर पालन न करूं, सच्चाई सच्चाई से ही बराबर की जाती है ॥ १६ ॥ मैं प्रतिज्ञा को सत्य करता हुआ न लोभ से न मोह से और न अज्ञान से तमोगुण के आवरण में आकर गुरु (पिता) के सत्य के सेतु (पुल, मर्य्यादा) को तोडूंगा ॥ १७ ॥ असत्य प्रतिज्ञा वाले चञ्चल, अस्थिर मन वाले पुरुष का, न देवता, न पितर स्वीकार करते हैं, यह हम ने (शास्त्र से) सुना है ॥१८॥ प्रत्येक आत्मा के लिए मैं इस सत्यरूप धर्म्म को अटल देखता हूं, (सत्याचरण) रूप भार सत्पुरुषों ने उठाया है, इस लिए मैं इस को अभिनन्दन करता हूं ॥ १९ ॥ भूमि, कीर्त्ति, यश और लक्ष्मी ये सचमुच पुरुष को चाहते हैं । हां ये सारे सत्य के पीछे चलते हैं, इस लिए सत्य का सेवन करे ॥ २० ॥ जो आपने कुतर्क वाले वचनों से मेरे लिए भला निश्चय करके कहा है, यह कल्याण है इस को करो (यह कल्याण नहीं किन्तु) अनार्य्यपन है ॥ २१ ॥ गुरु के सामने इस वनवास की प्रतिज्ञा को स्वीकार करके कैसे अब गुरु के वचन का परित्याग करके भरत के वचन को करूं ॥ २४॥ मैंने गुरु (पिता) के सामने निश्चल प्रतिज्ञा की है ॥ २५ ॥

अहह ! कैसा यह ऊंचा सच्चाई का भाव है, जो हमारे पूर्वजों का जीवन है, सचमुच यह उन के जीवन का जीवन है । कौन नहीं जानता, कि महाराज दशरथ ने इसी सत्य के अर्थ प्राण दिये । " रघु कुल रीत यही लची आई । प्राण जाएं पर वचन न जाई " ॥

इसी प्रकार महाभारत के इतिहास भी आर्य्य जीवन को सच्चाई का जीवन बोधन करते हैं । भीष्मपितामह ने सत्य का पालन करते हुए आयु भर ब्रह्मचर्य्य धारण किया । और इसी

शूरवीर आर्य्य ने सत्य का पालन करते हुए रण में अपने शरीर को गिराया, पर शिखण्डी के प्रतिमुख शस्त्र नहीं चलाया :—

जब महाराज दुष्यन्त ने कण्वऋषि के आश्रम में गांधर्व विवाह से शकुन्तला को विवाहा। और वहां से चला आया। फिर कुछ समय बीतने पर ऋषि ने अपने शिष्यों के साथ शकुन्तला को राजा के पास भेज दिया। वे तो उस को राजा के पास छोड़ कर चले आए। पर जब शकुन्तला ने बतलाया, कि मैं आप की वही धर्मपत्नी हूं, कण्वऋषि के आश्रम में जिसका आपने पाणि-ग्रहण किया था। और यह कुमार आप का युवराज है। तब दुष्यन्त इस बात को स्मरण करता हुआ भी लोक-निन्दा के भय से कहने लगा। मुझे कोई स्मरण नहीं, कि मेरा तेरे साथ कोई धर्म का सम्बन्ध है। चाहे चली जा। चाहे खड़ी रह। जो तेरी इच्छा है। वही कर। मैं नहीं जानता, कि तू कौन है और किस की है :—

उस पतिव्रता तपस्विनी को जब इस प्रकार का उत्तर मिला, तो वह लज्जित हुई दुःख से अचेतन सी हो गई। और स्थूणा के सदृश निश्चल खड़ी रही। कुछ देर सोच में रह कर भर्ता की ओर देखती हुई कहने लगी :—

जानन्नपि महाराज कस्मादेवं प्रभाषसे।
न जानामीति निःशङ्कं यथान्यःप्राकृतो जनः॥२३
अत्र ते हृदयं वेद सत्यस्यैवानृतस्य च।
कल्याणं वद साक्ष्येण मात्मानमवमन्यथाः॥२४॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ।२५।
एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणम् । यो वेदिता कर्मणः पापकस्य तस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि ॥२६॥ मन्यते पापकं कृत्वा न कश्चिद्वेत्ति मामिति । विदन्ति चैनं देवाश्च यश्चैवान्तरपूरुषः॥२७॥ आदित्यचन्द्रा वनिलानलौ च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च । अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥२८॥ यमो वैवस्वतस्तस्य निर्यातयति दुष्कृतम् । हृदिस्थितः कर्म्म-साक्षी क्षेत्रज्ञो यस्य तुष्यति॥ २९ ॥ न तु तुष्यति यस्यैष पुरुषस्य दुरात्मनः । तं यमः पापकर्म्माणं वियातयति दुष्कृतम् ॥ ३० ॥ योऽवमन्यात्मनात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । न तस्य देवाः श्रेयांसो यस्यात्मापि न कारणम् ॥ ३१ ॥

महाभारत । आदि पर्व । अध्याय ७४ ॥

अर्थ—हे महाराज ! आप जानते हुए भी कैसे निःशङ्क यह कह रहे हैं, कि मैं (तुझे) नहीं जानता. जैसे कोई प्राकृत-जत (निःशङ्क हृदय के विरुद्ध बोल देता है) ॥ २३ ॥ इस विषय में सत्य और अनृत को तेरा हृदय जानता है (हृदय) के साक्ष्य से कल्याण कहो. मत अपने आत्मा का अपमान कर ॥ २४ ॥ जो आत्मा में कुछ और रखकर बाहिर कुछ और स्वीकार करता है उसने कौन पाप नहीं किया, जिस चोर ने अपने आत्मा को चुरा लिया ॥ २५ ॥ तू समझता है कि मैं अकेला हूं (अर्थात् मेरे झूठ को कोई दूसरा जानने वाला नहीं) पर तू हृदय में रहने वाले सनातन मुनि (परमात्मा) को नहीं जानता, जो पाप कर्म्म का जानने वाला है । तू उस के पास पाप कर रहा है ॥ २६ ॥ मनुष्य पाप करके समझता है, कि मुझे कोई नहीं जानता । परन्तु उसको देवता और अन्तर्य्यामी पुरुष जानता है ॥ २७ ॥ सूर्य्य चन्द्र वायु अग्नि द्यौ भूमि हृदय यम दिन रात दोनों सन्ध्याएं और धर्म्म ये मनुष्य के वृत्त को जानते हैं ॥ २८ ॥ वैवस्वत यम (काल) उस के दुष्कृत को अलग कर देता है, जिस का हृदय स्थित कर्म्मों का साक्षी, क्षेत्रज्ञ सन्तुष्ट होता है ॥ २९ ॥ और जिस दुरात्मा पुरुष का यह (हृदय स्थित क्षेत्रज्ञ) संतुष्ट नहीं होता, पाप कर्म्मों वाले उस नीच को यम विविध यातनाओं मे डालता है ॥ ३० ॥ जो आप ही अपने आत्मा का अपमान करके (अपने आत्मा से) विपरीत स्वीकार करता है, उस के देवता कल्याण कारी नहीं होते, जिस का आत्मा भी (कल्याण का) कारण नहीं ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार इस बात चीत में धर्म्म सम्बन्धि अनेक

विषयों का उपदेश करती हुई शकुन्तला ने फिर सत्य के विषय में यह वचन कहे हैं:—

सत्यधर्म्मच्च्युतात् पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव । अनास्तिकोप्युद्विजते जनः किंपुनरास्तिकः ॥ ९५ ॥ वरं कूप-शताद्वापी वरं वापी-शतात्क्रतुः । वरं क्रतुशतात्पुत्रः सत्यं पुत्र-शताद्वरम् ॥ १०१ ॥ अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् । अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥ १०२ ॥ सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् । सत्यं च वचनं राजन् समं वा स्यान्नवा समम् ॥ १०३ ॥ नास्ति सत्य-समो धर्म्मो न सत्याद्विद्यते परम् । नहि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते ॥ १०४ ॥ राजन्सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः । मात्याक्षीः समयं राजन् सत्यं सङ्गतमस्तु ते ॥ १०५ ॥ अनृते चेत् प्रसङ्गस्ते श्रद्दधासि न चेत् स्वयम् । आत्मना हन्त गच्छामि त्वादृशे नास्ति सङ्गतम् ॥ १०६ ॥

अर्थ—सत्यधर्म से गिरे हुए पुरुष से नास्तिक जन भी इस प्रकार डरता है जैसे क्रुद्ध हुए सर्प से, क्या फिर आस्तिक जन ॥ ६५ ॥ सौ कुँएं से बावली श्रेष्ठ है, सौ बावली से यज्ञ श्रेष्ठ है, सौ यज्ञ से पुत्र श्रेष्ठ है और सत्य सौ पुत्र से बढ़ कर है ॥ १०१ ॥ सहस्र अश्वमेध यज्ञ और सत्य तुला पर धारण किया जावे तो सहस्रं अश्वमेध से सत्य ही विशेष रहता है (भारी निकलता है) ॥ १०२ ॥ सब वेदों की प्राप्ति सब* तीर्थों का स्नान और सत्य हे राजन् सम हों वा नहीं हों (सत्य ही इन से कदाचित् बढ़ कर रहे) ॥ १०३ ॥ सत्य के सम धर्म्म नहीं है, सत्य से कुछ परे (बढ़कर) नहीं और न कुछ अनृत से तीव्रतर है ॥ १०४ ॥ हे राजन् सत्य परब्रह्म है । (अर्थात् परब्रह्म की प्राप्ति का साधन है) सत्य परम संकेत है, हे राजन् प्रतिज्ञा को मत तोड़ तेरे साथ सत्य का मेल हो ॥ १०५ ॥ यदि तेरी झूठ में आसक्ति है, और स्वयं यदि विश्वास नहीं करता है, तो शोक ! यह मैं स्वयं चली जाती हूं, तेरे जैसे में मेल नहीं (अर्थात् सत्य से गिरा हुआ पुरुष सङ्गति के योग्य नहीं) ॥ १०६ ॥ शकुन्तला के इत्यादि धर्म्म युक्त, निर्भय, हृदय को सत्य में झुकाने वाले वचनों के प्रभाव ने राजा को सत्य की ओर झुकाया । और उसने अपने पहिले वचनों पर पश्चात्ताप करते हुए बड़े आदर के साथ शकुन्तला को स्वीकार किया ॥

---

* गुरु, विद्या व्रत प्रभृति को तीर्थ कहते हैं और इन तीर्थों में स्नान करने वाले पुरुष विद्यास्नातक व्रतस्नातक और विद्याव्रत-स्नातक कहलाते हैं ॥

वेदस्योपानिषत् सत्यम् ।

(महाभारत । वनपर्व । अध्याय २०६ श्लोक ६६)

अर्थ—सत्य वेद का रहस्य है ॥

ध्यान रखना चाहिये, कि परमात्मा ने हमें जिह्वा इस लिए दी है, कि हम अपने हृदय के भाव को दूसरे पर प्रकट कर सकें । यदि हम झूठ बोलते हैं, तो हमारे हृदय का भाव सुनने वाले पर प्रकट नहीं होता । इसी लिए झूठ बोलते समय मनुष्य परमात्मा के अभिप्राय के विरुद्ध चलता है, क्योंकि परमात्मा ने जिह्वा हृदय का भाव बोधन कराने के लिए प्रदान की है । और यह अभिप्राय झूठ बोलने से सिद्ध नहीं होता, इस लिये झूठ बोलना पाप है ॥

अतएव ऐसा सत्य वचन भी जो इस अभिप्राय से बोला गया है, कि वचन में भी हम सत्यवादी बने रहें । और हमारे हृदय का भाव भी दूसरे पर प्रकट न हो, पाप है । जैसाकि एक भाषा के पुस्तक में लिखा है, कि एक भक्तपुरुष जो लोगों की संगति से अलग रह कर माला फेरनेको प्यार करता था । उस ने अपने घर के एक कोने में अपने बैठने के लिए एक छोटा सा स्थान बनाया, और उसका नाम उसने ठाकुरद्वारा रक्खा, अब उसने अपने घर में आज्ञा दे दी, कि जब मुझे कोई आकर पूछे, तो उसे कह दो, भक्त जी ठाकुरद्वारे गए हैं । इस प्रकार उसने अपना कार्य्य भी सिद्ध किया, और अपने आप को और घर के लोगों को झूठ बोलने से बचाया । उस पुस्तक में लिखा है, कि जब सत्य से कार्य्य सिद्ध न हो, तो इस प्रकार के वचन कहदेने

चाहिये। जिससे सत्य भी बना रहे। और कार्य्य भी सिद्ध हो जावे। पर ध्यान रक्खो, ऐसे वचन कभी सत्य नहीं कहला सकते। झूठ बोलना इसी लिये पाप है, कि इससे हमारे हृदय का भाव दूसरे पर प्रकट नहीं होता, जिसके लिए परमात्मा ने हमें जिह्वा दी है। इसी प्रकार ऐसा सत्य भी हमारे हृदय के भाव को दूसरे पर प्रकट नहीं करता, जिसके लिए परमात्मा ने जिह्वा दी है। अतएव ऐसा सत्य सत्य नहीं, झूठ है, और पाप है। व्यास जी का वचन है—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्। नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत् सत्यं यच्छलमभ्युपैति॥

अर्थ—वह सभा नहीं जहां वृद्ध नहीं हैं, वे वृद्ध नहीं जो धर्म नहीं कहते, वह धर्म नहीं जिस में सत्य नहीं है, वह सत्य नहीं जो छल से युक्त है।

"सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथादृष्टं यथानुमितं यथाश्रुतं तथावाङ्मनश्चेति, परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेत् इत्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमप्याभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात्, न

सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्, तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेन कष्टं तमः प्राप्नुयात् तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् ”

(योगदर्शन । साधनपाद । सूत्र ३० भाष्य)

अर्थ—मन और वाणी का यथार्थ होना सत्य है—जैसे देखा जैसे अनुमान किया और जैसे सुना हो (दूसरे को कहते समय) उसी प्रकार मन और वाणी का होना सत्य है, अन्यथा सत्य नहीं । दूसरे पुरुष में अपना ज्ञान चलाने के लिये वाणी कही हुई वह यदि न धोखे वाली हो (जैसे द्रोणाचार्य ने अपने पुत्र अश्वत्थामा के मृत्यु के विषय में युधिष्ठिर से पूछा, हे सत्य-धन ! क्या अश्वत्थामा मारा गया । उसने हाथी के अभिप्राय से उत्तर दिया "हाँ अश्वत्थामा मारा गया," यह वचन धोखे वाले हैं । क्योंकि जो कुछ उसने देखा था । वह अश्वत्थामा नामक हाथी का मृत्यु था, और जो द्रोणाचार्य्य को इन वचनों से ज्ञान हुआ, वह अपने पुत्र का मृत्यु था,) न भ्रान्ति वाली हो न निष्प्रयोजन हो (जैसे अनावश्यक बातों का कथन) यह वाणी सब भूतों के उपकार के लिए प्रवृत्त हो, न कि उन को हानि पहुंचाने के लिए, यदि इस प्रकार कथन की हुई भी भूतों की हानि के लिए ही हो, तो वह सत्य नहीं है, पाप ही है, उस पुण्य के सदृश प्रतीत होने वाले पुण्याभास से मनुष्य बड़े अन्धेरे में गिरता है, इस लिये परीक्षा करके सब भूतों के लिए हितकारी सत्य बोले ।

मनु महाराज का उपदेश है:—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्म्मः सनातनः ॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादञ्च न कुर्य्यात् केनचित् सह ।

मनु० ४ । १३८--१३९ ।

अर्थ—सत्य बोले प्रिय बोले अप्रिय सत्य न बोले और प्रिय अनृत न बोले यह (वेद मूल होने से) सनातन धर्म्म है ॥ १३८ ॥ भद्र भद्र ही बोले (अर्थात् अभद्र बात को प्रकट करने में भी भद्र वचन ही बोले) अथवा भद्र ही कहे । सूखा वैर और विवाद किसी के साथ न करे ॥ १३९ ॥ प्राचीन समय में इन धर्म्मों का सम्पूर्ण अङ्गों में पालन आर्य्यावर्त के प्राचीन इतिहास की कैसी शोभा दर्शाता है । जब रामचन्द्र बन को गये, और उनका सारथि सुमन्त्र गङ्गा तक उनके साथ रथ लेकर गया, और गङ्गा पर पहुंच कर रामचन्द्र ने उस को अयोध्या की ओर लौटने के लिये कहा, और बार २ बड़े विनय और विस्तार के साथ प्रार्थना की, कि जिस प्रकार मेरे वृद्ध पिता और माताओं को मेरे लिये कोई क्लेश न हो, जाकर ऐसे उपाय करें, और भरत को शीघ्र युवराज बनावें । चौदह वर्ष के बीतते ही मैं लक्ष्मण और सीता शीघ्र उनके चरणों में पहुंचेंगे । अब आप शीघ्र जाइये, और पिता जी के शोक को दूर कीजिये । तब सुमन्त्र ने बड़ी नम्रता से यह उत्तर दिया ।

अहं किञ्चापि वक्ष्यामि देवीं तव सुतो मया ।

नीतोऽसौ मातुलकुलं सन्तापं मा कृथाइति ४५
असत्यमपि नैवाहं ब्रूयां वचनमीदृशम् ।
कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सत्यमिदं वचः ॥ ४६ ॥
तन्न शक्ष्याम्यहं गन्तुमयोध्यां त्वद्दृतेऽनघ ।
वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४८ ॥
प्रसीदेच्छामि तेऽरण्ये भवितुं प्रत्यनन्तरः ।
प्रीत्याऽभिहित मिच्छामि भव मे प्रत्यनन्तरः ॥
भृत्यवत्सल तिष्ठन्तं भर्तृपुत्र गते पथि ।
भक्तं भृत्यं स्थितं स्थित्या न मां त्वं हातुमर्हसि ।

वाल्मी० रा० अयोध्याकाण्ड । सर्ग ॥ ५२ ॥

अर्थ—मैं (जाकर) देवी (कौशल्या) को क्या कहूंगा, (क्या) तेरे पुत्र को मैं मामा के घर छोड़ आया हूं, इस लिये सन्ताप मत कर, ॥ ४५ ॥ यह झूठ है मैं ऐसा वचन नहीं कह सकता, और यह सच्चा वचन (कि मैं राम को निर्जन वन में छोड़ आया हूं) अप्रिय है । यह भी कैसे कह सकता हूं (क्योंकि अप्रिय सत्य भी नहीं बोलना चाहिये)॥४६॥ सो हे निष्पाप ! मैं इस कारण तेरे बिना अयोध्या को नहीं जासकता, वनवास में साथ चलने के लिए मुझे आज्ञा देनी योग्य है। (हे निष्पाप ! इस सम्बोधन का यह अभिप्राय है, कि जिस प्रकार आप पाप से बचने के लिए चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार करते

है इसी प्रकार मुझे भी पाप से बचने के लिए वनवास प्यारा है, क्योंकि अयोध्या में जाकर आप की माता के पास झूठ बोलूं या अप्रिय वचन बोलूं, इन दोनों में से एक पाप अवश्य मेरे सिर पर होगा) ॥ ४८ ॥ कृपा कीजिये मैं वन में आप का साथी बनना चाहता हूं। और मैं चाहता हूं कि आप मुझे प्रीति से कहें कि तू मेरा साथी हो ॥ ५२ ॥ हे भृत्य वत्सल! हे भर्तृ पुत्र (स्वामी के पुत्र) पूर्वजों के मार्ग पर खड़े हुए मर्य्यादा में ठहरे हुए भक्तिमान् मुझ भृत्य का आपको त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ५८ ॥ आर्य्यावर्त के इतिहास में धर्म पर यह जीवन्त विश्वास एक उस जीवन में पाया जाता है, जिस का काम उस समय रथ चलाना था।

अप्रिय सत्य न बोले इस का यह अभिप्राय है, कि किसी की हीन अवस्था पर आक्षेप न करे। इस बात को मनु महाराज ने स्पष्ट करके लिखा है:—

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान्। रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत्।

मनु० ४। १४१।

अर्थ—हीन अङ्ग वाले, अधिक अङ्ग वाले, विद्याहीन, अत्यन्त वृद्ध, रूप हीन, धन वा जाति हीन पुरुष पर उपहास न करे ॥ १४१ ॥ (अर्थात् उनको इन नामों से न बुलावे, क्योंकि उन को दुःख देने वा उपहास करने के लिए ही इन नामों से बुलाया जाता है, किसी अच्छे अभिप्राय से नहीं; इसी लिए

यह पाप है) अन्यथा ऐसा अप्रिय सत्य जिस में दूसरे का भला हो धर्म है। और वह कहना ही योग्य है। और ऐसे अप्रिय वचन के सुनने में भी सदा प्रसन्न वदन रहना चाहिये।

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥

अर्थ—हे राजन् ! बहुत पुरुष हैं, जो निरन्तर प्रिय बोलने वाले होते हैं, पर अप्रिय पथ्य वचन का कहने वाला और सुनने वाला दोनों दुर्लभ हैं ॥

नित्यं मनोपहारिण्या वाचा प्रल्हादयेज्जगत् ।
उद्वेजयति भूतानि क्रूरवाग्धनदोपि सन् १६६

हृदि विद्ध इवात्यर्थं यया सन्तप्यते जनः ।
पीड़ितोपि हि मेधावी न तां वाच मुदीरयेत्१६७
प्रियमेवाभिधातव्यं नित्यं सत्सु द्विषत्सु वा ।
शिखीव केकां मधुरां वाचं ब्रूते जनप्रियः॥१६८।

मदरक्तस्य हंसस्य कोकिलस्य शिखण्डिनः ।
हरन्ति न तथा वाचो यथा वाचो विपश्चिताम्॥
ये प्रियाणि प्रभाषन्ते प्रियमिच्छन्ति सत्कृतम् ।
श्रीमन्तो वन्द्यचरिता देवास्ते नरविग्रहाः१७०

नहीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
दया मैत्री च भूतेषु दानञ्च मधुरा च वाक् १७१

शुक्रनीति । अध्या० १ ।

अर्थ—सदा मन को खींचने वाली मधुर वाणी से जगत् को आह्लादित करे, क्योंकि कर्कश वाणी वाला पुरुष यदि मनोरथ को पूर्ण कर भी देवे, तो भी सन्ताप ही देने वाला होता है १६६. जिस वाणी से मनुष्य हृदय में बींधे हुए के तुल्य अत्यन्त दुःखी होता है, बुद्धिमान् पुरुष पीड़ित होकर भी ऐसी वाणी को कभी उच्चारण न करे ॥१६७॥ बन्धुओं और शत्रुओं में सदा प्रिय ही बोलना चाहिये, मोर के सदृश सदा मधुर वाणी बोलने से मनुष्यों का प्यारा बनता है ॥ १६८ ॥ मदमत्त हंस, कोयल और मोर की वाणियें वैसे नहीं खींचतीं जैसे विद्वानों की (मधुर हितकारी) वाणियें अपनी ओर खींच लेती हैं ॥१६९॥ जो प्रिय बोलते हैं प्रिय का आदर चाहते हैं, वे श्रीमान् प्रशंसनीय आचरणों वाले मनुष्यदेह में देवता हैं ॥ १७० ॥ तीनों लोकों में कोई ऐसा वशीकरण नहीं, जैसे सब भूतों पर दया, मैत्री, दान और मीठी वाणी ॥ १७१ ॥

धर्म्मार्थौ यत्र न स्यातां तद्वाक् कामं निरर्थिका ॥

शुक्रनीति ५ । ३६ ।

अर्थ—जिस में धर्म और अर्थ नहीं हों, वह वाणी ठीक निष्फल है ॥ ३६ ॥

पर सब से बढ़ कर वाणी की शुद्धि स्वाध्याय है । इस बक के भीतर वाणी के सारे पवित्र गुण वर्तमान हैं । श्रुति

परमात्मा का ज्ञान होने के कारण पूर्ण सत्यरूप है, मधुर है, द्रोह से सर्वथा शून्य है, प्रिय है, मातृवत् हित का उपदेश करने वाली है और अभ्युदय तथा निःश्रेयस की हेतु है। मनु महाराज का उपदेश है। कि प्रतिदिन प्रातःकाल वेदार्थ का विचार करना चाहिये जो सब व्यवहारों की शुद्धि का मूल है॥

अकेले हमारे देश के इतिहास ही इस बात की साक्षी नहीं देते, कि हमारे पूर्वजों का जीवन सत्य व्यवहार की लड़ी था। किन्तु देशान्तरों के यात्री जन भी जो हमारी जाति की गिरती हुई अवस्था में इस देश की सैर वा कार्य्यान्तर के लिए आए हैं। सब इस बात पर सहमत हैं, कि आर्य्यावर्त के लोग और सब देशों की अपेक्षा सत्यवादी हैं, ये व्यवहार में किसी को धोखा नहीं देते। सरल सीधे और व्यवहार के सच्चे हैं॥

आओ हम सब परमात्मा की शरण में इस उत्तम व्रत के लिए प्रतिज्ञा करें। और उस के सम्पूर्ण होने के लिए परमात्मा से वरदान मांगें।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयंतन्मे-
राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥

यजु० १। ५।

अर्थ—हे व्रत-पते! अग्ने! मैं व्रत को करूंगा, (आपके प्रसाद से) उस को मैं कर सकूं, वह (व्रत) मेरा सिद्ध हो यह मैं झूठ से सत्य (व्रत) को प्राप्त होता हूं। ५। और हम में दृढ़ विश्वास दो, कि हम अपने पूर्वजों के इस वचन का पालन करने में समर्थ हों:—

उदयति यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे,
विकसति यदि पद्मं पर्वतानां शिखाग्रे ।
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्नि-
र्न चलति खलु वाक्यं सज्जनानां कदाचन ॥

अर्थ--यदि सूर्य्य भी पश्चिम की ओर उदय हो, यदि कमल भी पर्वतों के शिखर पर खिले, यदि मेरु भी हिल जावे, यदि अग्नि भी शीतल हो जावे। तो भी सज्जन जनों का वचन कभी नहीं हिलता । यही हमारी प्रार्थना है, यही व्रत है, हे व्रत-पते ! इस व्रत के पालन का पूर्ण सामर्थ्य प्रदान कीजिये ।

ओ३म्

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ओ३म्

पाप-परित्राण ॥ ५ ॥

अव नो वृजना शिशीह्यचा वनेमानृचः ।
नाब्रह्मा यज्ञ ऋधग्जोषति त्वे ॥

ऋग्वेद ॥ १० ॥ १०५ ॥ ८

अर्थ–हमारे पापों को दूर कीजिये । हम ऋचा से अनृचों (वेदोक्त कर्मों से वेद विरुद्ध कर्मों को) नष्ट करें । अकेला ब्रह्म हीन (हृदय के प्रेम के द्योतक भाव से हीन) यज्ञ तुझे प्रसन्न नहीं करता है ॥ ८ ॥ परमात्मा के प्रसाद से जितना पाप और मलिनता को दूर रक्खा जाता है, उतना ही शुद्ध अन्तःकरण पुण्य-पदवी में उन्नत होता हुआ और पाप को पाद–दलित करता हुआ परमात्मा की भक्तिरूप यज्ञ में मग्न होता है, उन की शरणापन्न हो कर उन का प्रसाद लाभ करता है । उन की उदार प्रीति से अपने आत्मा को प्रसन्न करता है । और उनके योग में मुक्ति के आनन्द को अनुभव करता है ।

परन्तु हाय ! वे कैसी शोचनीय दशा में हैं । जो पाप के प्रवाह में दिनोंदिन बहे जारहे हैं । जिन को सदा यही चिन्ता रहती है । कि किस प्रकार हम अपनी पाप की प्रवृत्तियों को चरितार्थ करें । किस प्रकार कुप्रवृत्तियों को सतेज करें । और किस प्रकार पाप के विषयों को प्राप्त हों । पाप में रहते २ उन का अन्तःकरण इतना मलिन हो जाता है, कि वे उन कुप्रवृत्तियों में कोई शङ्का नहीं करते । प्रत्युत उनका आत्मा नास्ति-

कपन की ओर झुक जाता है। उनको धर्म परलोक और परमात्मा का न होना ही अच्छा प्रतीत होता है। उन का पाप से मलीन अन्तःकरण इस बात को स्वीकार करने के लिए तय्यार रहता है। कि कोई पाप पुण्य नहीं। न इस शरीर से अलग कोई आत्मा है, जो यहां के पुण्य पाप का फल भोगे और न कोई दण्ड देने वाला परमात्मा है जो किसी के किये का फल देवे। लौकिक-सुखों का भोग ही परम पुरुषार्थ है। पापाचरण से दूषित बुद्धि उन के सामने अनेक प्रकार के कुतर्कजाल ला रखती है। जिस से वे धीरे २ इन बातों पर विश्वस्त हो जाते हैं। और तब वे उन घृणित कार्य्यों को छिपाने तथा अपनी दुष्ट-वासनाओं को चरितार्थ करने के लिए कह उठते हैं। "यावज्जीवेत् सुखं जीवेद्दृणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः"॥ (जब तक जीवे सुखी जीवे ऋण चढ़ा कर भी घी पीवे। भस्म हुए देह का फिर आना कहां) परन्तु वे ऐहिक सुखों के लिए जितना अपने मन को पाप की ओर प्रेरते हैं, उतना ही उन के लिए क्लेश आधक २ होता है। एक धार्मिक पुरुष के जीवन में शान्ति वर्तमान है। वह उन पापियों को कभी उपलब्ध नहीं होती। इन्द्रियों की चञ्चलता उनको एक विषय से दूसरे विषय की ओर भटकाती है। और बार २ ठोकरें दिलाती है। पापविषयों की अप्राप्ति में सुख के साधन भी उन के लिए दुःख-दायी बन जाते हैं। विषयों के नाश में जो आपत्ति उन के जीवन पर बीतती है, वह उन सब प्रकार के सुखों को नष्ट भ्रष्ट कर देती है। मृत्यु के भय से कांपते रहते हैं। क्योंकि उन को यह अत्यन्त उच्छेद करने

वाला प्रतीत होता है। मृत्यु के पश्चात् भी उन के लिए अनेक प्रकार की नारकीय यातनाएं हैं। वे कभी शान्ति नहीं पाएंगे। जब तक अपने पाप से अनुतापित हो कर परमात्मा की शरण में नहीं आते।

इस लिए हे आर्य्य-वृन्द ! कभी अपने आचरण में पाप को प्रवेश करने मत दो। तुम धर्म-परायण हो, और तुम्हारे जीवन का उद्देश ब्रह्मप्राप्ति हो। स्मरण रक्खो, कि मनुष्य जैसा कर्म करता है। वैसा ही बनता है।

यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधु र्भवति, पापकारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन॥

बृहदा० ३। ४। ४। ५॥

अर्थ—जैसा (कर्म) करने वाला जैसा आचरण करने वाला हो, वैसा होता है। साधु (नेक) कर्म करने वाला साधु होता है। पाप कर्म करने वाला पापी होता है। पुण्य कर्म से पुण्यात्मा होता है। और पाप कर्म से पापी॥ ५॥ अतएव पाप से परित्राण पाने के लिए सर्वदा पापियों के परित्राता परमात्मा की शरण में स्थिर रहो। स्वेच्छाचारी बन कर अपने लोक परलोक को मत नष्ट करो। पाप करके कुतर्क-जाल द्वारा अपने आप को धोखे में मत डालो। किन्तु पाप के परिणाम पर सदा ध्यान रक्खो। क्योंकि उसका परिणाम अन्ततः जड़ से उखाड़ने वाला है।

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७० ॥
न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन् विपर्य्ययम् ॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १७२
यदि नात्मनि पुत्रेषु नचेत् पुत्रेषु नप्तृषु ।
नत्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥
अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अधार्मिक है, और जिस का धन अनृत है (अर्थात् जिस की कमाई पाप की है) और जो सदा दूसरों के सताने में प्रेम रखता है । वह इस लोक में सुखी नहीं बढ़ता (फलता फूलता) ॥ १७० ॥ अधार्मिक पापियों का शीघ्र विपर्यय देखता हुआ धर्म से दुखी होता हुआ भी मन को अधर्म में न लगावे । (तात्पर्य्य यह है, कि केवल लोक-निन्दा के भय से ही अधर्म त्याज्य नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष देखने में आता है, कि पाप से कमाए धन आदि शीघ्र नाश हो जाते हैं । और चोरी करने वाले पर शीघ्र राज-दण्ड गिरता है, पाप

का फल सदा उलटा ही है । इस लिए धर्म से कभी न चले । दुःखी हो कर भी उसी का अनुष्ठान करे । क्योंकि धर्म का अनुष्ठान कटु औषध के सदृश है, जो आरम्भ में यद्यपि दुःखदायी है तथापि परिणाम में सुख का हेतु है । और पाप का आचरण विष से मिले हुए मधु के सदृश है, जो खाने में यद्यपि मीठा है, परन्तु परिणाम में मृत्यु का हेतु है) ॥ १७१ ॥ अनुष्ठान किया हुआ अधर्म लोक में पृथिवी के सदृश तत्काल फल नहीं देता (जैसे पृथिवी बोते समय ही फल नहीं लाती किन्तु शस्य की उत्पत्ति वृद्धि और फलपाक की अपेक्षा करती है । वैसे ही पाप कर्म भी तत्काल ही फल नहीं लाता) किन्तु धीरे २ पुष्ट होता हुआ (अन्ततः) करने वाले की जड़ों को काट देता है (जैसे मूलच्छेद से वृक्षों की फिर उत्पत्ति नहीं होती । इसी प्रकार अधर्म करने वाले पापियों का अन्ततः मूल कट जाने से सर्व विनाश हो जाता है) ॥ १७२ ॥ (पाप) यदि अपने में नहीं, तो पुत्रों में । और यदि पुत्रों में भी नहीं, तो पौत्रों में । और यदि पौत्रों में नहीं, तो प्रपौत्रों में (फलता है) परन्तु किया हुआ अधर्म करने वाले का कभी निष्फल नहीं होता । (तात्पर्य्य यह है कि पाप से कमाया धन आदि यदि अपने जीवन में न भी हानिकारक हो, तौ भी पुत्रों, पौत्रों प्रपौत्रों में से कहीं न कहीं अवश्य अपना फल दिखलाएगा, यह विश्वास रक्खो, कि किया हुआ पाप कभी निष्फल नहीं जाता) ॥१७३॥ अधर्म से पहले बढ़ता है । फिर भद्र (धन आदि की सम्पत्ति) देखता है । पीछे शत्रुओं को जीतता है । (कुछ काल ऐसा रह कर अन्त में) मूल सहित

नष्ट हो जाता है । (पुत्र ज्ञाति बन्धुओं और धन के साथ उच्छिन्न हो जाता है । इसलिए धर्म का कभी त्याग नहीं करना चाहिये । अभिप्राय यह है, कि जब तक पूर्व पुण्य प्रबल रहता है । तब तक पाप करता हुआ भी उन्नति ही देखता है । और उस उन्नति को भ्रान्ति से उस कर्म का फल समझ लेता है। जब पाप के फल का उदय हुआ; और पूर्व सञ्चित धर्म निर्बल पड़ा । उसी समय जड़ सहित उखड़ जाता है) ॥ १७४ ॥

ध्यान रखना चाहिये, कि पाप एक रोग है । और वह निःसन्देह शारीरिक रोगों से बहुत भयानक रोग है । क्योंकि एक धार्मिक पुरुष यदि शारीरिक रोगों के वशीभूत रहता है तो भी वह अपने शाश्वत जीवन (आत्मा) को नीरोग देखता हुआ अपने आत्मा में शान्त रह सकता है । और निःसन्देह उस का शारीरिक रोग भी इसी शरीर के साथ है । वह इस शरीर के अनन्ततर अवश्यमेव नीरोग शरीर को ग्रहण करेगा ॥

वास्तव में यह पाप रूपी रोग ही ऐसा रोग है; जो और सब प्रकार के असाध्य रोगों को जन्म देता है । यह रोग भी दूसरे रोगों के सदृश मनुष्य को दुःख और क्लेश में डालता है । निर्बल बना देता है । बुद्धि को नष्ट भ्रष्ट कर देता है । विवेक का सत्यानाश करके सारे सुखों और सारी उन्नतियों को चूर्ण विचूर्ण कर देता है ।

पूर्व इसके कि हम इस के दूर करने का औषध सोचें, हमें यह जानना आवश्यक है, कि इसका निदान (आदि कारण) क्या है ? कई एक लोग इसका यह उत्तर देते हैं। कि काल ही इसका कारण है। सत्य युग में यह धर्म रूपी वृक्ष सर्वाङ्गों से सम्पूर्ण चार पाओं वाला था। त्रेता युग में एक पाद पाप ने दबा लिया और शेष तीन पाद धर्म के रहे। द्वापर में दो पाद धर्म के और उसके तुल्य दो ही पाप के हुए। अब कलियुग में धर्म का एक और भी पाद घट गया है। अर्थात् तीन पाद पाप और केवल एक पाद धर्म रह गया है। यह केवल काल का ही प्रभाव है। मनुष्य के कुछ हाथ नहीं। घोर कलियुग में तो इतना भी धर्म्म नहीं रहेगा। सब पापी ही पापी बन जाएंगे। क्योंकि काल के प्रभाव को कोई रोक नहीं सकता। ज़रतुश्त ने इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है, कि जितनी भलाइयें हैं सारी हुरमुज़ ने बनाई हैं और जितने प्रकार के पाप हैं, उन को अहुरमन ने बनाया है । इसी अहुरमन को शैतान कहते हैं जिस का वर्णन इञ्जील, तौरेत और कुरआन में पाया जाता है।

शैतान का स्वरूप पहिले पहिल पारसियों ने कल्पना किया और वह उनके पुस्तकों में अहुरमन के नाम से विख्यात है। फिर उसके पीछे हज़रत मूसा, हज़रत ईसा और हज़रत मुहम्मद ने इसके अस्तित्व को स्थिर रक्खा। और पाप कराने का सारा बोझ इस कल्पित स्वरूप के सिर पर डाल दिया। पारसियों से पहिले इस कल्पित शैतान का कहीं नाम नहीं पाया जाता। इसका जन्म दिवस ज़रतुश्त की पैग़म्बरी का समय है।

अब विचारना यह है। कि इन में से पाप का कारण कौन है? भला कभी यह न्याय कहला सकता है, कि पाप तो शैतान कराए। मनुष्य का उस में कोई अपराध न हो। फिर भी दण्ड मनुष्य को दिया जाए। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य ने क्यों उस के कहने पर पाप किया। क्योंकि पाप प्रथम मन में उत्पन्न होता है। यदि शैतान मनुष्य के मन को वश में करके उस में पाप के संकल्प उत्पन्न करा सकता है, तो फिर मनुष्य के अधीन ही क्या रहा? न्याय चाहता है, कि ऐसी दशा में मनुष्य को कोई दण्ड न हो और फिर भी यदि खुदा मनुष्य को दण्ड देता है, तो हम नहीं कह सकते, कि वह न्यायकारी है। और फिर हम ऐसे खुदा को क्या उपास्य ठहरा सकते हैं, कि जिस के राज्य में शैतान उस की इच्छा के विरुद्ध लोगों को पाप के मार्ग पर चलाता है। और वह उस को नहीं रोक सकता। वास्तव में शैतान कोई पदार्थ नहीं। उस के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं। वह केवल पाप के कारण को न समझने से अविद्या की गोद में कल्पना किया गया है। इसी प्रकार काल भी पाप का कारण नहीं। क्योंकि काल कोई ऐसा पदार्थ नहीं, जो किसी चेतन को पकड़ कर पाप के मार्ग में डाल दे। इसी मिथ्याबुद्धि को खण्डन करते हुए शुक्राचार्य्य ने लिखा है—

यदि कालः प्रमाणं हि कस्माद्धर्मोऽस्ति कर्तृषु ।

शुक्रनीति । १ । २२ ।

अर्थ—यदि काल प्रमाण है, तो करने वालों में धर्म क्यों है? (क्योंकि वे करने में स्वतन्त्र नहीं। उन को शुभ अशुभ

का कोई फल नहीं मिलना चाहिये) ॥ २२ ॥ हां इस में संदेह नहीं, कि जैसे शीत उष्ण के भेद से काल का भेद होता है। इसी प्रकार धर्म अधर्म के आचरण से भी काल का भेद समझा जाता है। परन्तु यह मनुष्यों के अपने अधीन है। काल वही कहलाएगा। जैसा मनुष्यों का आचरण होगा। इस विषय में भी शुक्राचार्य्य का यह उपदेश है—

वृष्टिशीतोष्णनक्षत्रगतिरूपस्वभावतः ।
इष्टानिष्टाधिकन्यूनाचारैः कालस्तु भिद्यते ॥

शुक्रनीति १ । २१ ।

अर्थ—वर्षा शीत और उष्णता (के कारण काल का भेद होता है, अर्थात् वर्षा ऋतु, शीत ऋतु और ग्रीष्म ऋतु होते हैं) तथा नक्षत्रों की गति से (काल का भेद होता है) और रूप के स्वभाव से (दिन रात प्रातः सायं आदि रूप के स्वभाव से काल का भेद होता है) इसी प्रकार इष्ट (अच्छे) अनिष्ट (बुरे) अधिक (बहुत अच्छे वा बहुत बुरे) और न्यून (थोड़े अच्छे वा थोड़े बुरे) आचारों से काल का भेद होता है ॥ २१ ॥ लोगों के आचार बहुत कुछ राजा के अधीन होते हैं। इस लिये जैसा राजा हो वैसा ही काल गिना जाता है। इस विषय का भी शुक्राचार्य्य ने उपदेश किया है—

आचार-प्रेरको राजा ह्येतत् कालस्य कारणम् ।

शु० १ ॥ २२ ॥

अर्थ—राजा ही आचार का प्रेरक है। यही काल (सत्य युग आदि का) कारण है ॥ २२ ॥

राजदण्ड-भयाल्लोकः स्वस्वधर्मपरो भवेत् ।
यो हि स्वधर्मनिरतः स तेजस्वी भवेदिह ।

शुक्र० । १ । २३ ।

अर्थ—राजदण्ड के भय से लोक अपने २ धर्म में प्रवृत होता है । और जो अपने धर्म में तत्पर हो, वह तेजस्वी होता है ॥ २३ ॥ मनु महाराज ने भी लिखा है ॥

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥३०१॥
कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतंयुगम् ॥३०२॥

मनु० अ० ९ ॥

अर्थ—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापर और कलियुग ये सब राजा की ही चेष्टा (विशेष) हैं । (क्योंकि उसी से सत्य आदि की प्रवृत्ति होती है) इसलिये राजा ही युग कहलाता है ॥३०१॥ (अपने कर्तव्य से) सोया हुआ (राजा) कलियुग होता है। जागता हुआ (अपने कर्तव्य कर्म को देखता हुआ) द्वापर, कर्मों में उद्यत हुआ त्रेतायुग, और कर्मों को करता हुआ सत्ययुग होता है ॥३०२॥ इसी अभिप्राय से काल को कारण बतलाया गया है । वास्तव में काल जड़ होने से धर्म अधर्म में मनुष्य का प्रेरक नहीं । और न कहीं आर्ष शास्त्रों में काल को पाप पुण्य का हेतु बतलाया है ॥

अब विचारणीय यह है, कि यदि ये सारे पाप की प्रवृत्ति का हेतु नहीं, तो फिर वह क्या कारण है ? जो मनुष्य को

पाप कर्म में प्रवृत्त करता है। उत्तर यह है, कि मनुष्य प्रत्येक कार्य्य करने में स्वतन्त्र है, जो कुछ वह चाहता है, करता है। परमात्मा ने मनुष्यों को स्वतन्त्रता दी है, तो उस स्वतन्त्रता के जो २ परिणाम हैं, उनको स्वीकार करना ही पड़ता है। सुख के साधन विद्यमान होने पर भी मनुष्य स्वतन्त्र नहीं, तो उन का भोग उसके लिए नीरस है। इस लिये परमात्मा ने मनुष्य को स्वतन्त्र किया है। और वह अपनी स्वतन्त्रता से पाप में प्रवृत्त होता है। यदि पाप का कोई ऐसा कारण होता, जिस को हम रोक न सकते। तो हम घृणित समझे जाने के स्थान में अधिकतर दया और अनुकम्पा के योग्य ठहरते। और पाप हमारे ऊपर एक दैवी आपत्ति समझी जाती। ऐसी अवस्था में दयालु परमात्मा कभी हमें दण्ड न देते पर हम तो अपनी इच्छा से पाप करते हैं, जान बूझ कर इस के पाश में फंसते हैं। हां यह प्रश्न हो सकता है कि हम देखते हैं, कि किसी समय मनुष्य ऐसे कुकर्म में प्रवृत्त होता है, जिसको वह करना नहीं चाहता था। फिर क्यों न समझा जाए, कि मनुष्य किसी भी कर्मके करनेमें स्वतन्त्र नहीं ? गीतामें इस विषयपर विचार किया गया है। और बतलाया गया है, कि क्यों मनुष्य इस प्रकार पाप में प्रवृत्त होता है। और किस प्रकार उस से मुक्ति लाभ कर सकता है॥ जैसा कि-अर्जुन ने पूछा--

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छिन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

गीता ३। ३६।

अर्थ--हे श्रीकृष्ण! यह पुरुष न चाहता हुआ भी किस

से प्रेरा हुआ पाप करता है। मानो बल से (इस कार्य में) लगाय गया है।

इस पर श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया:—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महा-शनो महापाप्मा विद्धयेन मिह वैरिणम् ॥३७
धूमेनाव्रियते वन्हिर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥
आवृतं ज्ञानमेतन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठान मुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ॥
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञान नाशनम् ॥४१॥

अर्थ—रजोगुण से उत्पन्न हुआ बड़ा खाने वाला महा-पापी यह काम है, यह क्रोध है। (काम ही सब विषयों में मनुष्य को खींचता है। फिर भी यह बड़ा खाने वाला कभी तृप्त नहीं होता। यही काम जब इस की गति को रोक दिया जाता है, तो रोकने वालों के प्रति क्रोध रूप बन जाता है। और फिर यह बड़ा पापी क्रोध युक्त पुरुष को पाप में प्रवृत्त करता है) इस (काम) को (सहज) वैरी जान ॥३७॥ जैसे अग्नि धूम से घिरा हुआ होता है, जैसे दर्पण मल से आवृत होता है,

जैसे गर्भ जरायु से आवृत होता है, वैसे उस (काम) से यह (सब जन्तु) आवृत है। (अर्थात् काम प्रत्येक जन्तु को घेरे हुए है) ॥३८॥ हे कुन्ती के पुत्र! सदा के वैरी न पूर्ण होने वाले इस काम रूपी अग्नि ने ज्ञानी का ज्ञान आवरण (परदे) में डाला हुआ है ॥३६॥ इन्द्रिय, मन और बुद्धि ये इसका अधिष्ठान कहलाते हैं (इन को ही काम धर्म के मार्ग से हटा कर विषयों की ओर झुकाता है) इनके द्वारा ही यह ज्ञान को अचरण करके मनुष्य को विविध मोहों में डालता है (आत्म-ज्ञान से विमुख करके विषयों के अनुभव में लगा देता है)॥४०॥ इस लिए हे अर्जुन! तू पहिले इन्द्रियों को रोककर ज्ञान विज्ञान के नाश करने वाले इस पापी (रजोगुण से उत्पन्न होने वाले काम) को मार। (अर्थात् यह विषयों का लालच ही मनुष्य को पाप की ओर फेरता है। पहिले इसी शत्रु को मार। फिर तुझे ज्ञान विज्ञान के मार्ग से कोई रोकने वाला नहीं) ॥४१॥

पापानां विद्धयधिष्टानं लोभमेव द्विजोत्तम।
लुब्धाः पापं व्यवस्यन्ति नरा नातिबहुश्रुतः॥

महाभारत। वन० पर्व० अ० २०६॥ श्लो० ५७॥

अर्थ—हे द्विजोत्तम! पापों का आधार लोभ को ही जान। लोभी मनुष्य ही पाप का व्यवसाय करते हैं जिन्हों ने श्रुति को बहुत नहीं सुना ॥५७॥

इत्यादि उपदेशों से प्रकट होता है, कि विषयों के लालच से मनुष्य पाप में फंसता है। यही प्रमाण, युक्ति और अनुभव से सिद्ध इस रोग का निदान है॥ इस लिये पाप से बचने का मुख्य उपाय यही है, कि हम विषयों में लोभी न हों। हां

विषयों के लालच से अलग रहने के और उपाय हैं। जो आगे वर्णन किये जाएंगे॥

जब इस रोग का निदान प्रतीत हो गया, तब आवश्यक है, कि हम उसके औषध का अन्वेषण करें। जिस प्रकार रोग के तत्व और उसके सच्चे औषध को न जानने वाले वैद्य रोग की निवृत्ति के लिये चेष्टा करते हुए केवल अपने लालच के वशीभूत हो रोगी को धोखे में डालते हैं। इसी प्रकार अपने २ मत की वृद्धि के लालच के वशीभूत हो इस के तत्व को न समझने वाले लोग ऐसे उपाय बतलाते हैं, जिन का इस रोग की निवृत्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। ईसाई लोग कहते हैं, कि मसीह ने हमारे लिये दुःख सहा जो उस पर विश्वास लाता है, उसके लिये दण्ड नहीं। क्योंकि उसके पाप के बदले मसीह दण्ड भुक चुका है। इस लिये खुदा उस पर विश्वास लाने वाले को पाप का दण्ड नहीं देगा। इसी प्रकार मुहम्मदी लोग कहते हैं, कि जो हज़रत मुहम्मद पर ईमान लाएगा, उसके लिये पाप का कोई दण्ड नहीं। मुहम्मदी लोगों के मत के अनुसार बिना मुसलमानों के सब लोग नरक की प्रजा हैं। इसी प्रकार ईसाई लोगों के विचार में ईसाइयों के बिना और सब नरक की प्रजा हैं। भला ऐसी २ बातों पर कैसे विश्वास हो सकता है, जो युक्ति और अनुभव के सर्वथा विरुद्ध हैं। कोई भी दीर्घदर्शी इन झूठी बातों पर विश्वास नहीं कर सकता। पाप जिसने किया है, उसको अवश्य भोगना पड़ेगा। जिसका हृदय नीच है, वह परमेश्वर के न्याय से नहीं छूट सकता। चाहे आर्य्य हो वा पारसी, मुसलमान हो वा ईसाई। यह कभी विश्वास मत करो, कि हमारे

पाप के बदले कभी किसी दूसरे को दण्ड मिला वा मिलेगा ? नहीं कभी नहीं। जो कर्म हमने किया है, उसके फल के भागी हम हैं। जैसे शुभ कर्म का फल हमें मिलेगा, इसी प्रकार अशुभ कर्म का फल भी हम ही भोगेंगे। विश्वास केवल परमात्मा पर रक्खो, जिसकी सब प्रजा हैं। और न कभी इस बात पर विश्वास रक्खो कि किसी क्षेत्र में जाने वा किसी नदी में स्नान करने से पापों की निवृत्ति हो सकती है। अन्तःकरण जिसमें पाप निवास करते हैं उसकी शुद्धि का उपाय कोई स्थान विशेष नहीं। हां ऐसे स्थानों में जब ऋषि मुनियों का निवास था, तब वे तीर्थ थे। और उनकी सेवा में रहने वाले पापों से बचे रहते थे॥

अब हम आर्ष शास्त्रों मे इस के औषध का अन्वेषण करते हैं। क्योंकि ऋषियों ने जिस प्रकार इस के निदान को ठीक २ समझा है। इसी प्रकार इसके औषध को भी ठीक २ ही जाना है। और उस औषध के सेवन से प्रत्येक मनुष्य अनुभव करता है, कि हमने आरोग्य लाभ किया है। परन्तु इस बात का ध्यान रहे, कि मनुष्य जब किसी पाप में प्रवृत्त होता है। तो उस से उस के अन्तःकरण पर मलिन वासना उत्पन्न होती है। जिससे उसकी पाप में रुचि बढ़ जाती है। इन उपायों के अनुष्ठान का यह तात्पर्य है, कि उसकी मलिन वासना को दूर कर दिया जावे। कि जिससे आगे को उसकी पाप में प्रवृत्ति न हो। परन्तु किया हुआ कर्म कभी निष्फल नहीं जाता। "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म. शुभाशुभम्" (किया हुआ शुभ वा अशुभ कर्म अवश्य ही भोगना पड़ता है)॥

मनु महाराज पाप से बचने के उपाय ये वर्णन करते हैं—

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥

मनु० ११ ॥ २२७ ॥

अर्थ—(१) प्रकट करने से (२) पश्चात्ताप करने से (३) तप से (४) अध्ययन से, तथा आपत्ति में (५) दान के द्वारा पाप-कारी जन पाप से छूटता है ॥ २२७ ॥

ये पांच उपाय हैं, जिनका अनुष्ठान करने से वह पुरुष भी जो कदाचित् पाप में प्रवृत्त हुआ है, पाप के संस्कारों से बच जाता है,और इसीलिये उसकी अगली प्रवृत्ति पापात्मिका नहीं होती, किंतु उस की प्रवृत्ति का मुख पाप से हट कर धर्म की ओर मुड़ जाता है ॥

इन में से पहला उपाय ख्यापन है ॥ अर्थात् मैंने यह निन्दनीय कर्म किया है, इस प्रकार अपने मुख से अपने पाप कर्म का कथन करना । क्योंकि :—

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते ।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ।

मनु० ११ ॥ २२८ ॥

अर्थ—मनुष्य, पाप करके स्वयमेव जैसे २ उसका कथन करता है (मुझ से यह दुष्ट कर्म हुआ है इस प्रकार धर्मात्माओं के सामने अपनी निन्दा करता है) वैसे २ उस पाप से (इस प्रकार) अलग हो जाता है जैसे सांप कैंचुली से ॥ २२८ ॥ इस

में सन्देह नहीं, कि मनुष्य पाप को निन्दनीय समझता है। और इसलिये जब कोई उस से कुकर्म्म हो जाए, तो उस को छिपाने के लिये प्रयत्न करता है, जिस से कि वह दूसरों की दृष्टि में घृणास्पद न हो। परन्तु इस में भी सन्देह नहीं, कि पाप को छिपाने की चेष्टा करना मानुष जीवन में दम्भ के संस्कार डाल देता है। यदि मनुष्य अपने पाप को स्वयं अपने मुख से स्वीकार करता है, तो सरलता उसके हृदय को पाप से विमुक्त रखने के लिये पूरी सहायता देती है। इस लिये भी उसका आत्मा पाप से बचने के लिये पूर्ण प्रयत्न करता है। क्योंकि वह समझता है, कि मैंने अपने कुकर्म को छिपाना तो नहीं। फिर क्या मैं अब भी कुकर्म से निवृत्त नहीं होता। अब भी निर्लज्ज के सदृश पापों में फंसा हुआ क्या मुख दिखला सकता हूं। ये विचार उसकी प्रवृत्ति का मुख पाप की ओर से फेर लाते हैं। किञ्च श्रद्धास्पद धाम्मिक जनों के सन्मुख अपने पाप के स्वीकार करने से उनका धार्म्मिक प्रभाव अपने आत्मा के भीतर प्रबल वेग के साथ स्थान लाभ करता है। और उन के जीवन का पवित्र बल पाप के निर्बल दल को विध्वस्त करने में सबल प्रकट होता है। इसी प्रकार एकान्त में परमात्मा के सामने अपने पाप को कथन करना और इस को पराभूत और विध्वस्त करने के लिये उन से बल मांगना पाप से बचने का हेतु है॥

दूसरा उपाय पश्चात्ताप है। वह पाप का नाशक इस प्रकार है :—

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥२२९॥

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात् पापात् प्रमुच्यते।
नैवं कुर्य्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥२३०
एवं सञ्चिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम्।
मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् २३१
अज्ञानाद्यदिवा ज्ञानात् कृत्वा कर्म विगर्हितम्।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् २३२

अर्थ—जैसे २ उस (पाप करने वाले) का मन दुष्कृत कर्म की निन्दा करता है वैसे २ उसका शरीर उस पाप से विमुक्त होता है ॥२२९॥ पाप करके संतप्त होने से (शोक ! मैंने प्रमाद से यह क्या कुकर्म किया है इस प्रकार मानस खेद से) उस पाप से छूट जाता है। फिर ऐसा नहीं करूंगा इस प्रकार की निवृत्ति के द्वारा वह पवित्र होता है ॥ २३० ॥ इस प्रकार परलोक में (शुभ और अशुभ) कर्म्मों के इष्ट और अनिष्ट फलों के उदय को मन से विचार कर मन, वाणी और शरीर से सदा शुभ कर्मका ही आचरण करे ॥२३१॥ बिना जाने वा जान कर (प्रमाद से वा इच्छा से) निन्दित कर्म करके उस से छूटना चाहता हुआ दूसरा न करे (अर्थात् उसके पीछे फिर कभी दुष्कृत कर्म न करे) ॥ २३२ ॥ जब तक मनुष्य प्रमाद की निद्रा में सोता है तब तक वह अपने पाप को पाप नहीं समझता न उसे परमेश्वर का भय है। ऐसे पुरुष को कभी अपने पापों के लिये पश्चात्ताप नहीं होता। ऐसे पुरुष की अवस्था अत्यन्त घृणित हो जाती है। उस का जीवन दिन २

पाप की ओर आगे बढ़ता है। उस के लिये मानुष जीवन न केवल निष्फल है किन्तु विष फल के लाने वाला बन जाता है॥

पर हां जो अपने पाप को पहचानते हैं, उसके अनिष्ट फल पर दृष्टि डालते हैं, उनको अपने किये पर पश्चाताप होता है। वे अपनी निन्दनीय अवस्था पर शोक करते हैं। और फिर वे उस दुष्कर्म को सर्वथा छोड़ देते हैं। वे अपने एक २ दुराचरण को देखते हैं। और छोटे से छोटे दुष्कर्म से भी उनका हृदय सन्तप्त होता है। और वे उन सब को छोड़ देते हैं, जिनको वे धर्म के विरुद्ध समझते हैं। उनकी प्रतिज्ञा होती है, फिर हम ऐसा नहीं करेंगे। वे इस प्रतिज्ञा को बड़े प्रयत्न और धैर्य्य के साथ पालन करते हैं। और इस प्रकार पाप से सर्वथा निवृत्ति उनके जीवन को पवित्र बना देती है। वे देखते हैं, कि यद्यपि अधर्म तत्काल फल नहीं लाता, तो भी वह फल लाए बिना कभी नहीं मिटता। पापी पुरुष इस लोक में धनी प्रतीत हो। उसकी सेवा में अनेक भृत्य विद्यमान हों। वह प्रत्येक प्रकार से प्रमुदित दिखलाई देवे। पर निःसंदेह जैसा किया है, अवश्य ही भरना पड़ेगा। आत्मा के सुख और दुःख की यहां ही समाप्ति नहीं। उस के लिये इस लोक के सदृश परलोक भी है। यदि एक पापी ने अपने दुष्कर्म का फल यहां नहीं खाया, तो वह अवश्य उस के फल को वहां भोगेगा। परमात्मा के राज्य में अन्याय नहीं है उसके कर्म्म का पेड़ अवश्य ही फलेगा। चाहे उसी समय फले वा देर से फल लावे।

जो पुरुष इस अटल नियम को समझते हैं, वे मन में

शुभ चिन्तन करते वाणी से शुभ बोलते और शरीर से शुभ आचरण करते हैं। यदि प्रमाद से वा जान बूझ कर कोई अशुभ संकल्प आत्मा में उत्पन्न हुआ वा अपवित्र आचरण शरीर से प्रकट हुआ है, तो वह पुरुष जिस के हृदय में सच्चा पश्चात्ताप हुआ है। जो उस पाप से बचना अपना परित्राण समझता है। वह कभी दुबारा उस कुकर्म में नहीं फंसता। और निःसंदेह उसको उस जुगुप्सित कर्म से बचने के लिये परमात्मा सहायता देते हैं॥

तीसरा उपाय तप है:—

यस्मिन् कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम्।
तस्मिंस्तावत् तपः कुर्य्याद् यावत्तुष्टि-करं भवेत्।

मनु० ११। २३३॥

अर्थ—जिस कर्म के करने पर इसका मन हलका न रहे (किन्तु पाप के कारण मन भारी हो जावे) उस में उतना तप करे, जितना तुष्टि करने वाला हो (जितने तप से मन का बोझ दूर होकर निर्मल प्रतीत होने लगे)॥२३१॥

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्य्यकारिणः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः॥२३९
यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः।
तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः॥२४१॥

मनु० अ० ११।

अर्थ—महापातकी (जिन से ब्रह्महत्या आदि महापातक

हुए हैं) और दूसरे अकार्य्य करने वाले जन ठीक २ किये हुए तप से ही उस पाप से छूटते हैं ॥२३८॥ मन वाणी वा शरीर से जो कोई पाप किया जाता है उस सारे को तपोधन (तप ही जिन का धन है) पुरुष शीघ्र दग्ध कर देते हैं ॥२४१॥ पाप से बचने का यह उपाय है, कि मनुष्य सर्वदा धर्मकार्य्यों में प्रवृत्त रहे। क्योंकि कोई पुरुष भी कभी कर्म्म-हीन नहीं रह सक्ता। मानस वाचिक वा कायिक किसी न किसी कर्म्म में उसकी प्रवृत्ति रहती है। यदि मन को शुभ कर्मों से अवसर दिया जावे, तो वह अवश्य अशुभ कर्मों की ओर झुकेगा। इस लिये एक क्षण भी उसको शुभ कर्मों से हटने का अवसर नहीं देना चाहिये। सदा शुभ कर्मों में प्रवृत्ति ही पाप से बचे रहने का मूल है। और यदि कोई प्रमाद से ऐसा कर्म हो जावे, जो मन पर पाप का मैल जमा देता है, तो मनुष्य को बड़े उद्योग के साथ धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होना चाहिये। शारीरिक क्लेशों को सहन करते हुए भी धर्म के अनुष्ठान से पाप की वासना को अन्तःकरण से उखेड़ देना चाहिये। जिस से फिर कभी भूल कर भी पाप की ओर प्रवृत्त न हो। जैसे जैसे मनुष्य का धर्म में प्रेम बढ़ता है, और वह दिन प्रतिदिन उसके अनुष्ठान से मन वाणी और शरीर को पवित्र बनाता चलाजाता है, वैसे वैसे उसका मन अधर्म को वासनाओं से पृथक् होता चला जाता है। किसी भी अकार्य्य के करने वाला हो, चाहे महापातकीभी क्यों न हो। जब वह उस पाप पर पश्चाताप करता हुआ अपने आगामि जीवन को तपश्चर्य्या की परम्परा में डाल देता है, तब वह अपने अन्तःकरण को पाप की वासनाओं से विमुक्त होता हुआ देखता है। धर्म्मानुष्ठान का यह स्वभाव है, कि वह

शुद्ध अन्तःकरण को उत्पन्न करता है। और शुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष फिर धर्म के ही अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। पाप के सङ्कल्प को भी उसमें स्थान नहीं मिलता। धर्म के इस बल को साक्षात् अनुभव करने वाले ऋषियों का उपदेश है॥

धर्म्मेण पापमपनुदति। बृहदा० उ०।

अर्थ—धर्म से पाप को दूर करता है॥

चौथा उपाय अध्ययन (वेदाभ्यास) है। वेदवाणी मनुष्य के कल्याण के लिये प्रवृत्त हुई है। वेदों के सारे उपदेश अनिष्ट से बचाने और इष्ट की प्राप्ति के लिये यथाभूत साधनों का उपदेश करते हैं। किञ्च वे उपदेश परमात्मा की आज्ञा रूप हैं। इसलिये वह पुरुष जिस के हृदय में परमात्मा का भय है। और जो उसको प्यार करता है, वेदों का अभ्यास उसको पाप और अन्याय के मार्ग से खींचकर हटा लेता है। और अभ्युदय तथा श्रेयस के मार्ग पर चलने के लिये अन्तःकरण में उत्साह और साहस को पूर्ण कर देता है। किन्तु उसके ज्ञान का अग्नि पाप के इन्धन को सर्वथा भस्मीभूत कर देता है॥

छादयन्ति हवा एनं छन्दांसि पापात् कर्मणः।

आरण्य काण्ड।

अर्थ—छन्द (वेद) इसको पाप कर्म्म से ढांपते हैं॥

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि॥२४५॥
यथैधस्तेजसा वन्हिः प्राप्तं निर्दहति क्षणात्।

तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेद-वित् ॥२४६

मनु० अ० ११ ।

अर्थ—यथाशक्ति प्रतिदिन वेदों का पढ़ना पञ्च महायज्ञों का अनुष्ठान और क्षमा (अपराध को सहारना) (ये कर्म) महापातकों से जनित पापों को भी शीघ्र नाश कर देते हैं॥२४५॥ जैसे अग्नि तेज के द्वारा निकटस्थित ईंधन को क्षण में दग्ध कर देता है, वैसे ही वेदवेत्ता ज्ञानाग्नि के द्वारा सारे पाप को दग्ध कर देता है ॥२४६॥ अर्थात् वेदों का अभ्यास पाप को जड़ से उखेड़ देता है। वेदों के उपदेष्टा दूसरों की प्रवृत्ति को भी धर्म रूप बना देते हैं। पाप उस स्थान से प्रस्थान कर जाता है, जहां वेदों का अभ्यास मानुष जीवन को पुण्य के गन्ध से सुगन्धित बनाता है। मानों वेदाभ्यास से जनित ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर पाप तृण निःशेष दग्ध हो जाते हैं॥

और विशेष कर उन मन्त्रों का अभ्यास जो परमात्मा की व्यापकता और प्रभुता को प्रकट करते हैं, पाप से बचने के लिये बड़े उपयोगी हैं। सन्ध्या के "ऋतञ्चसत्यं" इत्यादि तीन मन्त्र इन गुणों के प्रकट करने वाले हैं। इन्हीं मन्त्रों को अघमर्षण (अर्थात् पाप दूर करने वाले, पाप से बचने के साधन) भी कहते हैं—मनु महाराज इन मन्त्रों के विषय में लिखते हैं—

त्र्यहंतूपवसेद्युक्तास्त्रिरन्होऽभ्युपयन्नपः ।

मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥२५९

यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापानोदनः ।

तथाघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापानोदनम् ॥२६०॥

मनु० । अ० ११

अर्थ—नियम वाला होकर तीन दिन उपवास करे और दिन में तीन वार स्नान करे, तो तीन वार अघमर्षण का जप करने से सब पातकों से छूट जाता है। (यह प्रायश्चित्त की रीति पर वर्णन किया है) ॥२५६॥ जैसे यज्ञों का राजा अश्वमेध यज्ञ सब पापों के दूर करने वाला है। वैसे अघमर्षण सूक्त सब पापों के दूर करने वाला है ॥३६०॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुःसनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमितिस्थितिः ॥९४
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥९७
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादे तत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ।९९।
यथा जातबलो वन्हिर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञःकर्मजं दोषमात्मनः ॥१००॥

मनु० अ० ११

अर्थ—वेद, पितर देवता और मनुष्यों का सनातन नेत्र है. वेद शास्त्र अशक्य (बनाने में अशक्य है अर्थात् अपौरुषेय है) और अप्रमेय है यह मर्य्यादा है ॥ ९४ ॥ चार वर्ण तीनो लोक

चारों आश्रम भूत भविष्यत् और वर्तमान ये सब कुछ वेद से प्रसिद्ध होता है (अर्थात् इन का विभाग वेद से जाना जाता है) ॥ ९७॥ सनातन वेदशास्त्र सब भूतों का पालन करता है, इस लिये मैं इसको उत्तम समझता हूं क्योंकि यह इस जन्तु का साधन है ॥ ९९॥ जैसे प्रवृद्ध हुआ अग्नि गीले काष्ठों को भी दग्ध कर देता है, वैसे वेद के जानने वाला अपने कर्म से उत्पन्न होने वाले दोषों को दग्ध कर देता है (अर्थात् वेद के जानने वाला दोष दुष्ट कर्मों से अलग रहता है) ॥१००॥

पांचवां उपाय दान है, दीनों के दुःख दूर करने और अर्थियों की आशा पूर्ण करने में धन का व्यय करना अंतःकरणको पवित्र बनाता है। हां इन सब दानोंमें से वेद अर्थात् वेद पढ़ाना का, सुनाना वा वैदिक धर्म में लाने के लिए दान बहुत बढ़कर है, जिस से पाप और पुण्य का विवेक होकर पाप से निवृत्ति और धर्म में प्रवृत्ति होती है ॥

सर्वेषा मेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्य्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥

मनु० ४ । २३३

अर्थ—जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सोना और घी इन सब दानों में से वेद का दान बढ़कर है। इन कार्यों में धन का व्यय करना उपकारी है। अपितु ऐसा व्यय व्यय नहीं किन्तु लाभ है। किसी कवि ने कहा है —

या लोभाद्या परद्रोहात् यः पात्रे यः परार्थके ।
प्रीतिर्लक्ष्मीर्व्ययः क्लेशः सा किं सा किं स किं स किम्

अर्थ—जो अपने लालच से प्रीति है क्या वह प्रीति है

(अर्थात् नहीं) जो किसी के साथ द्रोह करने से लक्ष्मी (धन) है, क्या वह लक्ष्मी है? जो पात्र (दान के पात्र) में व्यय है, क्या वह व्यय है? जो दूसरे के लिये क्लेश है, क्या वह क्लेश है? ॥

पाप प्रवृत्ति का समूल उच्छेदन करनेवाली तो परमात्मा की भक्ति उस का भय और उसकी व्यापकता को अनुभव करना है। जब मनुष्य परमात्मा की व्यापकता को अनुभव कर लेता है तब उसके हृदय में पाप की ओर अत्यन्त घृणा उत्पन्न होती है क्योंकि वह देखता है, कि कोई स्थान ऐसा नहीं, जहां वह परमात्मा से छिप सके। पापी पुरुष भी अपने माता पिता तथा अन्य वृद्ध माननीय और धार्म्मिक पुरुषों के सन्मुख कभी पाप कर्म का साहस नहीं कर सकता। उनके सन्मुख करना तो दूर रहा, किन्तु ऐसा प्रयत्न करता है, कि जिस से उसका कुकर्म उनसे सर्वथा छिपा रहे। तब वह पुरुष जो परमात्मा को सर्व व्यापक समझता है, वह किस प्रकार उस परमात्मा परमपिता परमबन्धु परम माननीय स्वामी के सन्मुख पाप करने का साहस कर सकता है। वह देखता है, कि जिस परवस्तु को उठाना चाहता है, उस पदार्थ में परमात्मा वर्तमान हैं। जिस स्थान में वह पदार्थ धरा है। उस स्थान में विद्यमान हैं। जिन हाथों से उठाना चाहता है, उन हाथों में वर्तमान हैं। फिर क्योंकर उसको इस कुकर्म की आज्ञा मिल सकती है? अपितु उसके हृदय में किसी कुकर्म के लिये संकल्प ही उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि वह देखता है, कि मन के अन्दर परमात्मा वर्तमान हैं। मैं इस मन को उनसे कभी नहीं छिपा सकता।

सर्वमात्मनि संपश्येत् सच्चासच्च समाहितः।

सर्वमात्मनि संपश्यन् नाधर्मे कुरुते मनः ॥

मनु० । १२ । ११८ ।

अर्थ—एकाग्र मन होकर सब स्थूल और सूक्ष्म को परमात्मा में वर्तमान देखे सबको परमात्मा में देखता हुआ मन को अधर्म में नहीं लगाता ॥ ११८ ॥ वह देखता है:—

यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति २
भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥३॥

कठ० उ० व० ६

अर्थ—जितना यह सारा जगत् है उसी परमात्मा से निकला और उसी प्राण में चेष्टा कर रहा है। वह बड़ा भय, उद्यत वज्र के सदृश है (चन्द्र सूर्य्य ग्रह नक्षत्र तारा प्रभृति समस्त जगत इस प्रकार नियम से उसके शासन में चल रहा है, जिस प्रकार भृत्य अपने स्वामी को वज्र हाथ में लिये सिर पर खड़ा देखकर नियम से उसके शासन में चलते हैं)। जो इसको जानते हैं वे अमृत होजाते हैं ॥ २ ॥ इसके भय से अग्नि तप रहा है। भय से सूर्य्य तप रहा है, भय से इन्द्र वायु और मृत्यु दौड़ रहा है ॥ ३ ॥ फिर किस प्रकार वह इस भय को परे फैंक कर पाप में प्रवृत्त हो सकता है। वह देखता है, कि कोई भी चेष्टा उसकी ऐसी न हो, जो परमात्मा को अप्रिय है। लोगों में कीर्ति लाभके लिये उसके कर्म नहीं होते किन्तु,

परमात्मा की आज्ञापालन के लिये। वह लोगों के यश और निन्दा से निरपेक्ष होकर परमात्मा की आज्ञापालन की ही अपेक्षा करता है। वह देखता है—

यतश्चोदेति सूर्य्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तन्देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन॥

कठ० उ० ४। ९

अर्थ—जिससे सूर्य्य उदय होता है। और जिसमें अस्त होता है। सब देवता उसमें प्रोए हुए हैं। उसका कोई उल्लङ्घन नहीं करता॥ ९॥ वह उसको देखता हुआ स्वयं किस प्रकार उसकी आज्ञा का भंग कर सकता है? उसके हृदय का विश्वास है। और पूर्ण विश्वास है।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतंकम्। द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥ उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता। उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः॥ अथर्व० ४। १६। २-३

अर्थ—जो स्थिर है, जो चलता है, जो विश्राम करता है, जो गुहा में छिपा है, जो निर्जन (गह्वर) में छिपा है, (वरुण राजा यह सब कुछ जानते हैं) दो जन अलग बैठकर जो कुछ मन्त्रणा करते हैं वरुण राजा उनमें तीसरे होकर जानते हैं।

यह भूमि वरुण राजा की है। यह जो वृहत् द्यौ लोक है, जिस के किनारे दूर हैं (उसके भी वही राजा हैं) ये जो (जल और वायु के) दोनों समुद्र हैं। यह दोनों वरुण की कुक्षि हैं। उसके उदर में स्थित हैं) वह इस छोटे जल (जल के विन्दु में) भी छिपा हुआ है ॥ ३ ॥ जो एक स्थान में रहता है। जो चलता फिरता रहता है, जो विश्राम करता है। जो अन्धेरी गुहा में छिपा रहता है, जो निर्जन गह्वर में प्रवेश करता है। वरुण राजा उन सबको जानते हैं। जो दो अलग बैठ कर शुभ मन्त्रणा वा कुमन्त्रणा करते हैं। वरुण राजा उनमें तीसरे होकर उसको जान लेते हैं। उनसे कोई छिप नहीं सकता। वे सब के साथ ही साथ हैं। वे पाप करने पर भी जान लेते हैं, पुण्य करने पर भी मालूम कर लेते है। उनको सर्व साक्षी जानकर पाप से भय करो। शुभ कर्म में प्रवृत्त रहो। उन को सदा अभिमुख देखो। वे तुम्हारे स्वामी हैं। इस पृथिवी के वही राजा हैं। वही इस असीम द्यौलोक के राजा हैं। दोनों समुद्र उन्हीं के आश्रय हैं। वे इस गम्भीर समुद्र के तल में वर्तमान हैं। वे इस असीम आकाश की चोटी पर विद्यमान हैं। वे गम्भीर समुद्र में ही नहीं, अल्प जलविन्दु में भी वर्तमान हैं। अणु से अणु और स्थूल से स्थूल सब में परिपूर्ण हो रहे हैं। पुण्य कर्म की ओर उत्साह देते हैं। पाप कर्म का दण्ड देकर उस से परित्राण करते हैं, हां उनकी रक्षा में आजाने से पाप कर्म निकट नहीं आता।

न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् ॥ ऋग्वेदः

अर्थ—उनसे रक्षा किया हुआ न मारा जाता है न जीता जाता है। पाप उसको न निकट से न दूर से स्पर्श कर सकता है। "सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते" सब पाप उससे निवृत्त होजाते हैं। आओ हम उनकी रक्षा में आवें। पाप से परित्राण पाने के लिये उनकी शरण में पड़ें॥

त्वं हि विश्वतोमुखविश्वतः परिभूरसि।
अपनः शोशुचदघम्॥ ६ ॥
द्विषो नो विश्वतोमुखातिनावेव पारय।
अप नः शोशुचदघम् ॥७॥
स नः सिन्धु मिव नावयातिपर्षाः स्वस्तये।
अपनः शोशुचदघम् ॥८॥ ऋग्वेद १। ९७

अर्थ – हे विश्वतोमुख आप सब ओर से घेरने वाले हैं। उपद्रवों से हमारी सब ओर से रक्षा कीजिये। पाप को हमसे दूर कीजिये॥ ६ ॥ हे विश्वतोमुख नौका से नदी के सदृश हम को सब द्वेषों से पार पहुंचाइये। और हम से सब पापों को दूर कीजिये॥ ७ ॥ नौका से नदी के सदृश हमको कल्याण (धर्म पर चलने और उन्नति साधन करने) के लिये पार पहुंचाइये। हम से पाप को दूर कीजिये ॥ ८ ॥ हम आपकी शरण में निर्मल हृदय को लाभ करें, जो आपके प्रेम और भक्ति का पात्र हो, आपके विश्वास में दृढ़ हो, और आपकी आज्ञा में स्थिर हो, और आप की भक्ति रूपी अमृत रस का पान करे।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

तप और दीक्षा ॥ ६ ॥

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षा मुपनिषेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं बल मोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसन्नमन्तु ॥ अथर्व० १६, ४१, १

अर्थ—ऋषि लोग जो कल्याण की इच्छा करते और परमार्थिक (सच्चे) सुख के ज्ञाता हैं, सब से पहिले तप और दीक्षा का अनुष्ठान करते हैं । उसी से राष्ट्र बल और पराक्रम प्रकट होता है । अतएव योग्य है, कि सब विद्वान् इस (तप और दीक्षा) की ओर झुकें ॥

यह मन्त्र उपदेश करता है, कि कल्याण और पारमार्थिक सुख का साधन तप और दीक्षा हैं । और फिर यह उपदेश करता है, कि इन्हीं दोनों साधनों से बल और पराक्रम मिलते हैं । तब इसमें कोई सन्देह नहीं रहता, कि ये बड़े उत्तम साधन हैं और इन साधनों से मानुष जीवन कृतकृत्य हो सकता है । और इसमें भी सदेह नहीं, कि तप की प्रशंसा आर्य्य जाति में अत्यन्त विख्यात है । शास्त्रकार इस के महत्व और गौरव को बड़े सौन्दर्य्य से वर्णन करते हैं । तद्यथाः—

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषिकं सुखम् ।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेद-दर्शिभिः ॥
ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः ।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः ।
तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥
यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥

मनु० अ० ११ । श्लो० २३४ । २३६ । २३७ । २३८ ॥

अर्थ—वेद के जानने वाले विद्वान् कहते हैं, कि जो दिव्य और मानुष सुख है, उस सारे का तप ही मूल, तप ही मध्य और तप ही अन्त है ॥ २३४ ॥ वे ऋषि जो मन वाणी और शरीर को संयम में रखते और फल, मूल तथा वायु का आहार करते हैं, तप से ही चराचर सहित त्रिलोकी को देखते हैं ॥ २३६ ॥ औषध, आरोग्यता, विद्या और अनेक प्रकार की दैवी स्थिति (नक्षत्र, तारा, ग्रह और उपग्रहों का ज्ञान) ये सब तप से ही प्रसिद्ध होते हैं तप ही इनका साधन है ॥२३७॥ (बहुतक्या) जो कुछ दुस्तर है, जो दुष्प्राप है जो दुर्गम है और जो दुष्कर है, तप से सब कुछ सिद्ध होता है, क्योंकि तप का कोई (पदार्थ) उल्लङ्घन नहीं कर सकता (अर्थात् तप के सामने सारे कार्य्य झुक जाते हैं) ॥ २३८ ॥ इस प्रकार मनु महाराज इस अध्याय और अन्यान्य अध्यायों में भी तप की अप्रतिहत शक्ति का वर्णन करते हैं, और पाप से बचने के पांच साधनों में से इस को एक साधन बतलाते हैं ॥

फिर अङ्गिरस ऋषि इसी को परमात्मा की प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं ॥ तद्यथाः—

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो

भैक्षचर्यां चरन्तः । सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।

मुण्डक० ३ । १ । ११ ॥

अर्थ—जो विद्वान् भिक्षाचरण करते हुए शान्त होकर अरण्य (एकान्त देश) में तप और श्रद्धा का अनुष्ठान करते हैं, वे शुद्धात्मा होकर सूर्य्यद्वार (प्राण द्वार) से वहां पहुंचते हैं, जहां वह अमृत और अव्यय स्वरूप पुरुप (पूर्ण परमात्मा) है। फिर वही ऋषि उपदेश करते हैं:—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

मुण्डक ३ । १ । ५ ॥

अर्थ—यह आत्मा सत्य से तप से यथार्थज्ञान से और ब्रह्मचर्य से सदा पाया जा सकता है, जो शरीर के भीतर ज्योतिर्मय सदा शुद्ध है, और जिसका वे यति दर्शन करते हैं, जिनके दोष क्षीण (नष्ट) हो गए हैं ॥५॥ इसी प्रकार श्वेताश्वतर का उपदेश है—

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः । एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥

श्वेताश्वतर ३ । १ । १५ ॥

अर्थ—जैसे तिलों में तेल, दही में घी, स्रोत में जल और अरणियों में अग्नि (पाया जाता है) इसी प्रकार आत्मा में वह (परमात्मा) पाया जाता है, जो इसको सत्य और तप के साथ साक्षात् करता है ॥ १५ ॥ इसी प्रकार छान्दोग्य और बृहदारण्यक में भी तप को ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन बतलाया है। तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में ब्रह्मविद्या विषयिणी एक कथा है, कि भृगु जो वरुण का पुत्र था, अपने पिता वरुण की शरण आया। (और प्रार्थना की) कि हे भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिये। उसने कहा। ये सब भूत जिससे उत्पन्न होते और उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते और प्रलीन होते हुए जिस में प्रवेश करते हैं, उसको तू विचार वह ब्रह्म है। (पिता की आज्ञा पाकर) उसने तप तपा। और तप करके अन्न (पृथिवी) को ब्रह्म समझा, क्योंकि अन्न से जीव उत्पन्न होते, उत्पन्न होकर अन्न से जीते और प्रलीन होते हुए अन्न में प्रवेश करते हैं। परन्तु इस ज्ञान से उसकी शान्ति नहीं हुई, और सन्देह उस के हृदय को घेरे हुए थे। वह जानता था, कि अन्न स्वयं भी उत्पन्न होता, जीता और लीन होता है। इस लिये वह इसको जानकर फिर वरुण के पास आया। हे भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिये। उस ने कहा, तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है (ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है)। इस प्रकार वह बार २ पिता के पास आया और बार २ तप का उपदेश पाकर उसका अनुष्ठान करके भिन्न २ पदार्थों को ब्रह्म समझता रहा, और शान्ति न होने के कारण बार २ पिता की शरण ली। अन्त में उसने इसी साधन से उस आनन्द

स्वरूप को देखा, जो वस्तुतः इस जगत् का उत्पादक, रक्षक और प्रलय कर्ता है। उपनिषद् यहां चुप है वह फिर पिता के पास नहीं आया और न कोई उसे संशय रहा और संशय रहता ही क्यों ? क्योंकिः—

भिद्यतेहृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

मुण्डक।

अर्थ—उस परावर (दूर और निकटस्थ, स्थूल और सूक्ष्म में व्यापक) परमात्मा के दर्शन होते ही हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सब संशय कट जाते और पाप दूर भाग जाते हैं॥ इस प्रकार इस उपनिषद् में तप को परमात्मा की उपलब्धि का साधन दर्शाया है। निदान सब,शास्त्रकार तप के महत्त्व को बड़े आदर के साथ वर्णन करते हैं। और इस लिये, "तपस्वी" इस शब्द के उच्चारण होते ही हृदय में उस पुरुष का विशेष गौरव स्थिर हो जाता है, जिस महापुरुष के लिये यह शब्द प्रयुक्त किया गया है। निस्सन्देह यह साधन बड़ा अद्भुत साधन है, जो साधक के जीवन को नया जीवन देकर अद्भुत जीवन बना देता है। जिस के सामने कुछ भी दुस्तर दुष्पाप दुर्गम और दुष्कर नहीं रहता। आओ! हम विचार करें कि ऐसा अद्भुत साधन कैसी मूर्त्ति रखता है। इस में संदेह नहीं, कि इस समय भी आर्य्य जाति इसके महत्त्व को अनुभव करती है, परन्तु इसके स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ है। एक पुरुष ग्रीष्म ऋतु में मध्यान्ह के समय चारों ओर अग्नि जलाकर मध्य में बैठ जाता है, और ऊपर से सूर्य्य की धूप पड़ती है, वह इस सब को सहन करता है।

यह क्यों ? इस लिये कि यह पञ्चाग्नि तप कहलाता है। फिर हेमन्त ऋतु में जल के भीतर रातें काटता है। इसी लिये कि यह तप कहलाता है। फिर दूसरा पुरुष पाओं में रस्सा डाल उलटा लटकता और झूलता रहता है। कोई पुरुष लोहे की शलाकाओं को अपनी शय्या बनाता और उसी पर लेटकर दिन रात काटता है। और कोई पुरुष भुजा को ऊपर ही खड़ा रखता और इसको ऊपर ही सुखा देता है। ये सब इसीलिये कि वह स्वयं और दूसरे लोक ऐसे कामों को तप समझते हैं। और वे समझते हैं, कि शरीर को तपाने (क्लेश देने) का नाम तप है॥

निस्संदेह तप शब्द इस अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है, परन्तु शरीर को क्लेश में रखनेमात्र का नाम तप नहीं है। ऐसे तपाने को तप नहीं कहते, जिस प्रकार हीरे को जलाने से केवल कोइला (कार्बन) शेष रह जाता है, और वह अपने पहिले मूल्य को भी खो बैठता है, किन्तु तप ऐसे तपाने का नाम है जिस प्रकार स्वर्ण को अग्नि में तपाने से कुन्दन हो जाता है। उस के मल नष्ट हो जाते, चमक अधिक होती और मूल्य बढ़ जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य तपश्चर्य्या में प्रवेश करता है, तो उस के पाप नष्ट हो जाते, तेज बढ जाता है और वह कुन्दन हो जाता है। केवल शारीरिक क्लेशों से मन वश में नहीं आता। वल्मीक (बांबी) की ताड़ना से कभी सांप नहीं मरता। गीता में लिखा है:—कि "जो पुरुष उन घोर तपों को करते हैं, जिनका शास्त्र में विधान नहीं है, वे दंभ और अहंकार से युक्त हैं, और काम और राग के दबाव में है। वे मूर्ख निरर्थक शरीर को दुर्बल करते और जीवात्मा को क्लेश दे रहे हैं। उन को आसुर निश्चय वाला

जानो" इस प्रकार इन तीनों तपों का उपदेश करके, फिर इस तीन प्रकार के तपों मे से प्रत्येक तप सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का बतलाया है ॥ तद्यथाः—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते॥

अर्थ—जब मनुष्य फल की कामना छोड़ निष्काम होकर इन तीन प्रकार के तप को परम श्रद्धा के साथ करता है, तब यह सात्विक कहा जाता है। और जोः—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥

अर्थ—सत्कार, मान और पूजा के लिये किया जाता है वा दम्भ से किया जाता है, वह चल, स्थिर न रहने वाला राजस तप कहलाता है॥ और जोः—

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

गीता। अ० १७। श्लोक १७—१९॥

अर्थ—मूढग्राह (दुराग्रह) के साथ अपने आप को पीड़ा देने से वा दूसरे को पीड़ा देने के लिये किया जाता है वह तप तामस कहलाता है। यह तीन भेद इस लिये दिखलाए है कि तामस और राजस का त्याग करके सात्विक तप को स्वीकार किया जावे। गीता के इस उपदेश को सुनकर कोई सन्देह नहीं रहता, कि हम तप के स्वरूप को भूले

हुए है। और इसी लिये हम इन तपों का वह फल नहीं देखते जिसकी कि शास्त्र प्रतिज्ञा करते हैं।

आओ, हम इसकी मूर्ति का दर्शन करने के लिये उन्हीं शास्त्रों की शरण लें, जिन्हों ने इसके महत्व को गाया है। पूर्ण ध्यान देकर सुनो, मनु महाराज जो उपदेश करते हैं:—

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्॥

मनु० ११॥२३५॥

अर्थ—ब्राह्मण का तप ज्ञान है। (अर्थात् ब्रह्मचर्य्य द्वारा वेदपर्य्यन्त पूर्ण ज्ञान को उपलब्ध करना।

आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः। यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्

अर्थ—वह द्विज शिर की चोटी से लेकर नखों के अग्र पर्य्यन्त परमतप तप रहा है, जो माला पहिने हुए भी प्रतिदिन यथाशक्ति स्वाध्याय (वेद) को पढ़ता है। ब्राह्मण के लिये यही तप है, कि वह विद्या के क्षेत्र में आगे बढ़ता चला जावे और इसी प्रकाश से अन्धकार को दूर करके जगत् का मंगल साधन करे) क्षत्रियका तप है रक्षा करना।

क्षत्रियस्य परो धर्म्मः प्रजानां परिपालनम्।

प्रजा की रक्षा करना ही क्षत्रिय का परम धर्म है; (अर्थात् प्रजा की प्राणरक्षा के लिये अपने प्राणों का अर्पण करना यही क्षत्रिय का परम तप और परम धर्म है) वैश्य का

तप है वार्ता; (अर्थात् खेती वाणिज्य और पशुपालनादि से धन को बढ़ाना, और उसको शास्त्र की आज्ञानुसार व्यय करके अर्थ और परमार्थ को सिद्ध करना) । वाल्मीकि मुनि का उपदेश है:—

धर्माय यशसेऽर्थाय आत्मने स्वजनाय च ।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥

अर्थ—वह पुरुष जो धन को धर्म के लिये, यश के लिये, फिर धन उत्पन्न करने के लिये, अपने लिये, और स्वजनों के लिये, इन पांच विभागों में विभक्त करता है, वह इस लोक और परलोक में प्रमुदित रहता है । वैश्य के लिये यही तप है, कि वह धर्म के मार्ग से धन का उपार्जन करे और उसको शुभमार्ग पर व्यय करके देश की सेवा करे और परमार्थ को सुधारे) और शूद्र का तप सेवा है (अर्थात् शूद्र का यही तप है, कि वह नम्र होकर बिना ईर्ष्या और असूया के अपने हाथों से दूसरों की सेवा करे । धर्म मन्दिर पर आरूढ़ होने के लिये यही प्रथम सीढ़ी है जो क्रमशः दूसरी सीढ़ियों पर पाओं रखने के योग्य बना देती है)

पुरुशिष्ट का पुत्र बतलाता है, कि तप ही पूरा साधन है और इसी निमित्त उसको तपोनित्यनाम से पुकारते थे । और मुद्गल का पुत्र नाक बतलाता है, कि वेद का पढ़ना और पढ़ाना यही तप है:—

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो

भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्स्वैतत्तपः ॥

तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० अनु० ८ ॥

अर्थ—ऋत (सृष्टि नियम) तप है, सत्य तप है, श्रुत (शास्त्र का सुनना) तप है, शान्ति तप है, इन्द्रियों का निग्रह तप है मन का रोकना तप है, दान तप है, यज्ञ तप है, प्राणों के दाता दुःखों से बचाने वाले, सुखस्वरूप, ब्रह्म की उपासना करो, यह तप है ॥

अब हम उस पुस्तक को खोलते हैं, जिसको अनुपम शिक्षा देशान्तरों में अपनी कीर्ति फैला रही है, और प्रसिद्ध सारी भाषाओं में जिसने अपना जन्म ले लिया है। इस देशमें तो प्रातः काल का पाठ करना ही उसके आदर को सूचन कर रहा है। देखिये यहां पर यह साधन (तप) सारे अंगों की पूर्ण शोभा के साथ विराजमान है। यहां तप के ३ अंग बतलाये हैं; कायिक, वाचिक, मानसिक। तद्यथा—

देवद्विज गुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्य्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

अर्थ—देव, ब्राह्मण, गुरु और बुद्धिमानों का पूजन (आदर, सत्कार, सेवा) शौच (पवित्रता)। (यह कई प्रकार की है। यथा जल आदि से बाह्य अंगों को शुद्ध रखना। परन्तु—

सर्वेषामेव शौचनामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः ॥

अर्थ—सब पवित्रताओं में से धन की पवित्रता सबसे उत्तम है, जो धन में पवित्र है, वही पवित्र है, मट्टी और जल

से पवित्र पवित्र नहीं । और इसी लिये अधर्म से उपार्जन किये अन्न के सेवन से भी शरीर अपवित्र होता है) सरलता (शरीर, वेष और चेष्टा में औद्धत्यका सर्वथा त्याग, जैसे मन हो वैसी ही शारीरिक चेष्टा) ब्रह्मचर्य्य और अहिंसा यह शारीरिक तप है । दूसरा:—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

अर्थ—ऐसा वचन जो किसी के लिये दुःखकर, भय वा क्लेश का उत्पादक न हो, सत्य प्रिय और हितकारी हो ॥ जैसे:—

(सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ मनु०

अर्थ—सत्य बोले प्रिय बोले, ऐसा सत्य न बोले जो अप्रिय हो (अर्थात् केवल दुःख देने के अर्थ किसी की न्यूनता को प्रकट न करे) और ऐसा प्रिय न बोले जो झूठ हो, यही सनातन धर्म है) और वेद का अभ्यास (वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ मनु० २ । १६६ । वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का परम तप कहा जाता है) यह वाचिक तप है ॥ तीसरा:—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्ये तत्तपो मानसमुच्यते ॥

अर्थ—मन का प्रसाद (स्वच्छता, शान्ति, काम, क्रोधादि से रहित होना) सौम्यता (सौमनस्य और मन का दूसरों की

भलाई में झुके रहना) मौन (मन से वाणी की प्रवृत्ति का निरोध और मुनिभाव अर्थात् मनन करना) आत्मनिग्रह (मन का रोकना, वश में रखना) और भाव की संशुद्धि (अर्थात् किसी प्रकार के व्यवहार में किसी के साथ किसी प्रकार का छल न करना) और भावना (मन के संकल्प) का शुद्ध होना। इस एक (संकल्प की शुद्धि से सारे कर्म शुद्ध हो जाते हैं। क्योंकि यही सब कार्य्यों का मूल है, और इसी की अपवित्रता से शुभ कर्म भी फलप्रद नहीं होते, अपितु अशुभ फल के देने वाले बन जाते हैं। जैसा कि मनु महाराज उपदेश करते हैं:—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

मनु० २। ९७॥

अर्थ—दुष्ट भावना वाले के वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप सिद्धि को प्राप्त नहीं होते, किन्तु व्यर्थ जाते हैं वा विपरीत फल देते हैं॥

इसी प्रकार व्यासमुनि जी का उपदेश हैं॥

तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः। प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कस्तान्येव भावोपहतानि कल्कः॥

अर्थ—तप पाप नहीं (अपितु पाप से बचाता है, और स्वयं धर्म्म रूप है) इसी प्रकार अध्ययन पाप नहीं, वेदों की विधि जो कि स्वभाविक है वह पाप नहीं, और प्रयत्न से धन का उपार्जन करना पाप नहीं (किन्तु ये पाप से बचाने वाले और स्वयं धर्म्मरूप हैं) परन्तु ये ही नीच भावना से किये

हुए पाप बन जाते हैं॥

चत्वारि कर्म्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छन्त्य-यथाकृतानि। मानाग्निहोत्र मुतमानमौनं माने-नाधीतमुतमानयज्ञः॥ (महाभारत)

अर्थ—चार कर्म्म (अग्निहोत्र, मौन, अध्ययन, और यज्ञ) निर्भयता के दाता है, परन्तु ये ही उलटे किये हुए भय के देने वाले बन जाते हैं। जैसे मान के लिये अग्नि होत्र, मान के लिये मौन, मान के लिये अध्ययन और मान के लिये यज्ञ। इसीलिये यजुर्वेद में बार २ उपदेश किया है, "तन्मेमनः शिव-संकल्प मस्तु" वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो) यह मानस तप है॥ अब इस का स्वरूप देखने से हमें कोई संदेह नहीं रहता, कि तप एक ऐसा साधन है, जिसके सामने कुछ भी दुस्तर, दुष्कर दुष्प्राप और दुर्गम नहीं है, और इस का सामर्थ्य कहीं भी नहीं रुकता। यह परब्रह्म के दर्शन करा देता है, इसी से सब प्रकार का बल और पराक्रम मिलता है, और यही पारमार्थिक सुख का साधन है।

दीक्षाः—अर्थात् किसी धर्म्म कार्य्य में प्रविष्ट होने के लिये अधिकार लाभ करना वा किसी धर्मकार्य्यके पूरा करने के संकल्प से नियम धारण करना अपने आप को उस धर्म्म कार्य्य के लिये न्योछावर कर देना। जब मनुष्य किसी कार्य्य के पूरा करने के लिये इतना दृढ़ संकल्प रखता है। कि उसका पूर्ण करना उसके लिए अपने जीवन का उद्देश और जीवन से भी प्यारा बन जाता है। उसी समय मनुष्य उस कर्त्तव्य का उत्तम अधिकारी समझा जाता है, वह पुरुष जिसने किसी धर्म्म कार्य्य के लिये अपने आपको न्योछावर कर दिया है। वही

सच्चा दीक्षित है। वह निःसंदेह अपने कर्तव्य को सफल देखेगा और फिर यह सफलता धर्म्म कार्य्यों के अनुष्ठान में उत्तरोत्तर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करती है। फिर यही सच्चा विश्वास है, जो जीवन को सत्यरूप बना देता है। हां यही सच्चा विश्वास है, जो आत्मा को सत्यस्वरूप परमात्मा के साथ मिला देता है॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

यजुः ११। ३०॥

अर्थ—व्रत (के आचरण) से दीक्षा को प्राप्त होता है; दीक्षा से दक्षिणा (फल) को प्राप्त होता है, दक्षिणा से श्रद्धा को प्राप्त होता है और श्रद्धासे सत्य (परमेश्वर) प्राप्त होता है॥ अन्धकार से आवृत पुरुषों को विद्या के प्रकाश में लाने के लिये दीक्षित बनो, मृत्यु के पाश में फंसते हुए पुरुषों को अमृत की ओर लाने के लिये दीक्षित बनो, आपद्ग्रस्त लोगों को अभयदान देने के लिये दीक्षित बनो, भक्ति से शून्य हृदय को परमात्मा की भक्ति से पूर्ण करने के लिये दीक्षित बनो, भद्र और सुख के चाहने वाले जनों को भद्र और सुख के यथार्थ साधनों का उपदेश करने वाली श्रुति की शरण में लाने के लिये दीक्षित बनो, तब तुम परमात्मा के अवश्य स्वीकार्य्य होगे। और अवश्य उन के मेल से अमृत भोग करोगे। आओ! हम श्रुति (परमात्मा की प्रेरणा) के सामने झुकें, और अपनी गति का मुख इन साधनों की ओर फेरें जिस से हमारा जन्म सफल हो उद्देश पूर्ण हो, जीवन पवित्र हो, और हम कृतकृत्य हों॥ ओं॥

भक्ति ॥७॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥ यजु० ३४।४४

अर्थ—निष्काम, जागरण शील, मेधावी लोग उस सर्व व्यापक के परम पद की उपासना करते हैं ॥ ४४ ॥ हम लोग इस असीम संसार के भीतर उस क्षुद्र जलविन्दु के सदृश जीवन व्यतीत करते हैं जिसको सूर्य्य का एक किरण तपा सकता है, जिसको वायु का छोटा सा अणु सुखा सकता है और मट्टी का एक छोटा सा रेणु जिस का चिन्ह मिटा सकता हैं। इसी प्रकार इस जीवन पर मृत्यु की टिकटिकी लगी है उस के लिये यह एक छोटा सा ग्रास है और यह सदा उसके हाथमें है,वह इसको माताके उदरमें ही मुखमें डाल सकता है, माता की गोद से अलग कर सकता है पिता की छाया से विच्छेद कर सकता है, वह शिशु की मुग्ध अवस्था पर ध्यान नहीं देता वह युवक की यौवनश्री पर विचार नहीं करता; बुढ़ापे में तो हम स्वयं भी इसको उसी के मुख में समझते हैं। यह किसी के कार्य्य की पूर्ति अपूर्ति को नहीं देखता। प्रत्येक मनुष्य को प्रतिक्षण बालों से पकड़े रखता है जब चाहे उस के हाथ में है किसीका कुछ चल नहीं सकता। उसके सामने निर्बल और बलवान् एक जैसे हैं राजा और रङ्क एक जैसे हैं। इस में आश्चर्य नहीं कि मनुष्य क्यों शीघ्र मरता है आश्चर्य तो इस में है कि वह क्यों इतनी देर जीता है जब कि प्रतिक्षण मृत्यु के पाश में है। इसमें कोई संदेह नहीं कि एक एक श्वास

पर परमात्मा मृत्यु को रोकते हैं, तभी हमारे आयु की लड़ी में अनेक दिनों के मनके प्रोये जाते हैं। विश्वास रक्खो कि उन की आज्ञा के विना एक श्वास नहीं मिल सकता।

को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ॥ (तैत्तिरीय उप०)

कौन जी सके कौन श्वास ले सके यदि यह आनन्दमय आकाश न हो ॥ एक एक श्वास जिसके मूल्य के तुल्य संसार में कोई वस्तु नहीं, उसी प्राणप्रद का प्रदान किया हुआ है। वास्तव में इस जीवन के वही स्वामी हैं यह उन्हीं की इच्छा से हमारे पास है उन्हीं की इच्छा से प्रत्येक क्षण में इसके भीतर और इस के सामने अनेक अद्भुत घटनाएं होती रहती हैं जो इसकी रक्षा और वृद्धि का हेतु हैं॥

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ॥

प्रत्येक निमेष में जो २ घटनाएं प्रकट होती हैं सब उस विद्युत् पुरुष के द्वारा प्रकट होती हैं। वे पाप से फेरने के लिये रुद्ररूप धारण करके दण्ड दिखलाते हैं पुण्य में प्रवृत्ति के लिये सौम्यमूर्ति धारण करके पुरस्कार देते हैं। उनके चरणों से मुख फेरकर संसार पर भूलने वालों के लिये दारुण घटना उत्पन्न करके अपने चरणों की ओर फेरते हैं। वे किसी को अपनी करुणा से कभी अलग नहीं करते। एक वर्ष वा सौवर्ष वा सौ कल्प गिनते गिनते भी उनकी करुणा को स्थिर नहीं कर सकते। अपार दया उनकी है उनकी दया और दान का वर्णन करना मानो इस असीम

ब्राह्मण्ड के परमाणुओं को गिनना है। हम उनको भूल जाते हैं तो भी वे हमें नहीं भुलाते। हम उन से परे हटना चाहते हैं तो भी वे हम को अपनी ओर खींचते हैं हम संसार में दुःखित रहना पसन्द करते हैं, वे हमको इस से निकालने की चेष्टा करते हैं। हम उन से दूर होजाते हैं, पर वे हमारा साथ नहीं छोड़ते। हम को गिरता देखकर सहारा देते हैं, गिरा देखकर उठाते हैं उठता हुआ देखकर उत्साह देते हैं। उनके ऊपर ही हमारा सब कुछ निर्भर है वे हमारी रक्षा के लिये माता हमारे पालन के लिये पिता हमारे स्नेह के लिये मित्र हमारे रोगों के लिये औषध और हमारे सुख के लिये सम्पद् हैं। "एषाऽस्य परमागति रेषास्य परमासम्पद् एषोस्य परमोलोक एषोस्य परम आनन्दः" परमात्मा ही हमारी परमगति परम सम्पद् परम लोक और परम आनन्द हैं। फिर क्या हम उस पर प्रेमास्पद से वियुक्त होकर अपने जीवन को उन्नत करसकते हैं और क्या हम मोह की निद्रा में सोकर अपने जीवन को सफल करसकते हैं। उठो जागो प्राणों के प्राण मोक्षप्रद परमात्मा की शरण में आओ प्रकृति की कामनाओं को छोड़ो और आत्मकाम बनो आत्मकाम होना ही निष्काम होना है। उठो और प्रीति के फूल उनके चरणों में समर्पण करो उनके दर्शन के लिये उन्हीं के बन जाओ तब तुम्हारे लिये कोई भय नहीं परमात्मा के दर्शन से मृत्यु का दर्शन दूर हो जाएगा।

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्।

परमात्मा का देखने वाला न मृत्यु को देखता है न रोग को न दुःख को देखता है। उसको और सब कुछ दिख-

लाई देता है पर मृत्यु उससे छिप जाता है पाप छिप जाता है और अविद्या छिप जाती है। भक्ति एक अद्भुत रस है जिसका स्वाद रस लेने वाला ही समझ सकता है। इस रस में मग्न पुरुष को संसार नीरस प्रतीत होता है। उस हृदय में जहां भक्ति निवास करती है वहां विकृति को स्थान नहीं मिलता। दुराचारी मनुष्य भी यदि सच्चे हृदय से परमेश्वर की भक्ति करता है तो उसे साधु समझना चाहिये क्योंकि उसकी इच्छा बहुत उत्तम है वह शीघ्र धर्मात्मा बन जाता है और निरन्तर शान्ति को प्राप्त होता है। इस बात पर विश्वास रक्खो कि परमात्मा का भक्त कभी नष्ट नहीं होता। भक्ति ही सब धर्मों की माता है। जिस प्रकार सब जन्तु माता का आश्रय लेकर जीते हैं, इसी प्रकार सब भक्तजन भक्ति का आश्रय लेकर जीते हैं। भक्ति से सब धर्म सफल होते हैं और भक्ति से आत्मा में स्थिर शान्ति निवास करती है। यह वह रस है जिसको पीकर मनुष्य उसी में तृप्त रहता है। हमें योग्य है कि हम इस अमृतरस के पान करने के लिये अपने आत्मा को उसकी ओर प्रेरें। हृदय में परमात्मा का पूर्ण विश्वास हो। उसका पवित्र करने वाला नाम हमारे कानों के लिये अमृत हो उसके कीर्तन से हमारी जिव्हा पवित्र हो उस के ध्यान से हमारा आत्मा तृप्त हो। यदि हम परमात्मा की नित्य सेवा करें और उसकी शरण में जावें तो अन्धकार हमारे हृदय से दूर होकर प्रकाश बढ़ेगा अभद्र नष्ट होकर कल्याण निवास करेंगे सन्तप्त हृदय को शान्ति का लाभ होगा निर्मल मति प्रकाशित होगी धर्म में रुचि बढ़ेगी पाप से घृणा होगी उसकी भक्ति में आदर बढ़ेगा और आनन्द-मय रस को उपलब्ध करेंगे॥

आओ हम उनके जानने के लिये अप्रमत्त होकर जागें निष्काम होकर उनसे प्रार्थना करें "त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव" हे प्रभो! तुम ही हमारी माता और तुमही हमारे पिता हो तुम ही हमारे बन्धु और तुमही हमारे सखा हो तुम ही विद्या और तुम ही धन हो। हे परम देव! तुम ही हमारे सब कुछ हो। हम पापी होकर भी तुम्हारी शरण में आए हैं कि तुम हमारा उद्धार करोगे सन्तप्त होकर तुम्हारी शरण में आए हैं कि तुम्हारी शरण में शान्ति मिलती है। हे प्रभो! हम मैले हैं तुम हमको उज्ज्वल करो हम सन्तप्त हैं हमें शान्ति दो। असत्‌से हमको सत्‌में लेजाओ अन्धकार से हमको प्रकाश में लेजाओ मृत्यु से हमको अमृत में ले जाओ हमारे निकट सदा प्रकाशित रहो सदा हम तुम्हारी सुमति में हों और सदा तुम्हारे प्रीतिनयनों को अपने ऊपर देखें यही प्रार्थना है यही आशा है इसी आशा को पूर्ण करो॥

ओ३म्

शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

सूचीपत्र

संस्कृत के अनमोल रत्न

अर्थात् वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, धर्मशास्त्रों और इतिहास ग्रन्थों के शुद्ध, सरल और प्रामाणिक भाषा अनुवाद।

ये भाषानुवाद पं० राजाराम जी प्रोफैसर डी० ए० वी० कालेज लाहौर के किये ऐसे बढ़िया हैं, कि इन पर गवर्नमैन्ट और यूनीवर्सिटी से पं० जी को बहुत से इनाम मिले हैं। योग्य २ विद्वानों और समाचारपत्रों ने भी इनकी बहुत बड़ी प्रशंसा की है। इन प्राचीन माननीय ग्रन्थों को पढ़ो और जन्म सफल करो॥

(१) श्री वाल्मीकि रामायण—भाषा टीका समेत। वाल्मीकि कृत मूल श्लोकों के साथ २ श्लोकवार भाषा टीका है। टीका बड़ी सरल है। इस पर ७००) इनाम मिला है। भाषा टीका समेत इतने बड़े ग्रन्थ का मूल्य केवल ६।)

(२) महाभारत—इस की भी टीका रामायण के तुल्य ही है। दो भागों में छपा है। प्रथम भाग ६॥) द्वितीय भाग ६।) दोनों भाग १२)

(३) भगवद्गीता—पद पद का अर्थ, अन्वयार्थ और व्याख्यान समेत। भाषा बड़ी सुपाठ्य और सुबोध। इस पर ३००) इनाम मिला है। मूल्य २।), गीता हमें क्या सिखलाती है मूल्य ।–)

(४) ११ उपनिषदें—भाषा भाष्य सहित—

१–ईश उपनिषद	≡)	७–तैत्तिरीय उपनिषद	॥)
२–केन उपनिषद	≡)	८–ऐतरेय उपनिषद	≡)
३–कठ उपनिषद	।≡)	९–छान्दोग्य उपनिषद	२।)
४–प्रश्न उपनिषद	।–)	१०–बृहदारण्यक उपनिषद	२।)
५,६–मुण्डक और माण्डूक्य दोनों इकट्ठी	।=)	११–श्वेताश्वतर उपनिषद	।–)
		उपनिषदों की भूमिका	।–)

(५) मनुस्मृति—मनुस्मृति पर टीकाएं तो बहुत हुई है पर यह टीका अपने ढंग में सब से बढ़ गई है। क्योंकि एक तो संस्कृत की सारी पुरानी टीकाओं के भिन्न २ अर्थ इस में दे दिये हैं। दूसरा इसका हर एक विषय दूसरी स्मृतियों में जहां २ आया है, सारे पते दे दिये हैं तिस पर भी मूल्य केवल ३।) है।

(६) निरुक्त—इस पर भी २००) इनाम मिला है ४॥)

७—योगदर्शन १॥)
८—वेदान्त दर्शन ४)
९—वैशेषिक दर्शन १॥)
१०—सांख्य शास्त्र के तीन प्राचीन ग्रन्थ ॥।)
११—नवदर्शन संग्रह १।)
१२—आर्य-दर्शन १॥)
१३—न्याय प्रवेशिका ॥=)
१४—आर्य-जीवन १॥)
१५—दिव्य जीवन १)
१६—आर्य पञ्चमहायज्ञ पद्धति ।—)
१७—स्वाध्याय यज्ञ १)
१८—वेदोपदेश १)
१९—वैदिक स्तुति प्रार्थना ≡)
२०—पारस्कर गृह्यसूत्र १॥।)
२१—बाल व्याकरण इस पर २००) इनाम मिला है ॥)
२२—सफल जीवन ॥)
२३—प्रार्थना पुस्तक —)॥

२६—वात्स्यायन भाष्य सहित न्याय दर्शन भाष्य ४)

वेद और महाभारत के उपदेश —)॥
वेद और रामायण के उपदेश —)॥
अथर्ववेद का निघण्टु ॥।=)
सामवेद के क्षुद्र सूत्र ॥)
वेद मनु, और गीता के उपदेश —)॥
वैदिक आदर्श)॥
हिन्दी गुरुमुखी —)
पञ्जाबी संस्कृत शब्दशास्त्र ।≠)

शंकराचार्य का जीवन चरित्र और उन के शास्त्रार्थ, तथा कुमारिलभट्ट का जीवन चरित्र ॥।) औशनस धनुर्वेद ।) उपदेश सप्तक ॥—)

नोट—कार्यालय की इन अपनी पुस्तकों के सिवाय और भी सब प्रकार की पुस्तकें रिआयत से भेजी जाती हैं॥

मैनेजर—आर्षग्रन्थावलि, लाहौर।